श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) का मुखपत्र
कार्यालय : टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४
सम्पादक : डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

आत्मधर्म [४११]

[हिन्दी, गुजराती, मराठी, तामिल तथा कन्नड़ — इन पाँच भाषाओं में प्रकाशित
जैन समाज का सर्वाधिक बिक्रीवाला आध्यात्मिक मासिक]

संपादक :
डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

प्रबंध संपादक :
अखिल बंसल

कार्यालय :
श्री टोडरमल स्मारक भवन
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (भावनगर-गुजरात)

शुल्क :
आजीवन : १०१ रुपये
वार्षिक : ६ रुपये
एक प्रति : ५० पैसे

मुद्रक :
सोहनलाल जैन
जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर

क्या

१ आतम अनुभव करना.....
२ परम शांतिदायिनी : अध्यातम भावना
३ क्रमबद्धपर्याय :
एक इंटरव्यू : कानजीस्वामी से
४ क्या शरीर की प्रशंसा....
[समयसार प्रवचन]
५ कैसा है यह आत्मा ?
[नियमसार प्रवचन]
६ द्रव्यसंग्रह प्रवचन
७ ज्ञान-गोष्ठी
८ समाचार दर्शन
९ पाठकों के पत्र
१० प्रबंध संपादक की कलम से

क्षमावाणी के पावन अवसर पर, अज्ञान व प्रमादवश हुए ज्ञात व अज्ञात अपराधों के लिये आत्मधर्म परिवार क्षमाप्रार्थी है। — संपादक

आ त्म ध र्म

शाश्वत सुख का, आत्म शान्ति का, प्रगट करे जो मर्म।
समयसार का सार, सभी को प्रिय, यह आतम धर्म॥

वर्ष : ३५ [४११] अंक : ३

आतम अनुभव करना रे भाई॥ टेक॥

जब लौं भेद-ज्ञान नहिं उपजै, जनम-मरन दुख मरना रे।
आतम अनुभव करना०॥१॥

आतम पढ़ नव तत्त्व बखानै, व्रत तप संजम धरना रे।
आतम ज्ञान बिना नहिं कारज, जोनी संकट परना रे॥
आतम अनुभव करना०॥२॥

सकल ग्रंथ दीपक हैं भाई, मिथ्या तम के हरना रे।
कहा करें ते अंध पुरुष को, जिन्हें उपजना मरना रे॥
आतम अनुभव करना०॥३॥

'द्यानत' जो भवि सुख चाहत हैं, तिनको यह अनुसरना रे।
सोऽहं ये दो अक्षर जप कै, भव-जल पार उतरना रे॥
आतम अनुभव करना०॥४॥

बीस वर्ष पहले

[इस स्तंभ में आज से बीस वर्ष पहले आत्मधर्म (हिंदी) मे प्रकाशित महत्त्वपूर्ण अंशों को प्रकाशित किया जाता है।]

परमशांतिदायिनी : अध्यात्म भावना

देहादि से भिन्न चिदानंदस्वरूप आत्मा के भानपूर्वक बाह्य पदार्थों के ओर की प्रवृत्ति को छोड़कर अंतर में स्थिर होने के लिए ज्ञानी ऐसा विचारते हैं:—

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जान्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवोम्यहम्॥१८॥

इंद्रियज्ञान का व्यापार बाह्य पदार्थों में ही है। इंद्रियज्ञान द्वारा बाह्य में जो कुछ दिखायी देता है, वह तो अचेतन है, वह किंचित् नहीं जानता। मैं उस पर राग करूँ या द्वेष; तथापि उसे कुछ भी खबर नहीं है कि यह मुझ पर राग कर रहा है या द्वेष ? मेरे अभिप्राय को वह जानता ही नहीं है, तो मैं उसके साथ क्या बोलूँ ? और जो ज्ञाता-जाननेवाले हैं ऐसे अन्य जीवों का रूप तो मुझे इंद्रियज्ञान द्वारा दिखायी नहीं देता। इसलिए बाह्य में मैं किसके साथ चलूँ ? आत्मा तो इंद्रियों का विषय नहीं बनता और जड़-अचेतन शरीर के साथ बोलूँ, वह तो व्यर्थ ही बकवास है। इसलिए बाह्य प्रवृत्ति ही सब व्यर्थ है; अस्तु इंद्रियों की ओर का व्यापार छोड़कर मैं अपने ज्ञान को अंतर्मुख करता हूँ—ऐसी भावना भाते हैं। इसप्रकार बाह्य विषयों की वृत्ति छोड़कर ज्ञान को आत्मा में एकाग्र करने में ही शांति और समाधि है। ज्ञान को बाह्य विषयों में भटकाना तो अशांति और व्यग्रता है।

एकबार दृढ़ निर्णय से अपने वेदन में ही ऐसा भासित होना चाहिए कि अरे! मुझे बाह्य वृत्ति में कहीं किसी भी विषय में रंचमात्र सुख का वेदन नहीं होता। बाह्य वृत्ति में तो मात्र आकुलता का ही वेदन होता है और अंतरोन्मुखता में ही शांति एवं अनाकुलता है। ऐसे निर्णय के बल से अंतर्मुख होने पर विकल्प टूटकर अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव होता है।

[समाधिशतक पर हुए पूज्य कानजी स्वामी के प्रवचन से]

आत्मधर्म, वर्ष १५, अंक १७०, जून १९५९, पृष्ठ १

सम्पादकीय

क्रमबद्धपर्याय | एक इंटरव्यू : कानजीस्वामी से

卐 卐 卐 क्रमबद्धपर्याय 卐 क्रमबद्धपर्याय 卐 क्रमबद्धपर्याय 卐 卐 卐

卐 आज के बहुचर्चित विषय 'क्रमबद्धपर्याय' के संबंध में विक्रम की इक्कीसवीं शती में क्रमबद्ध की चर्चा आरंभ करनेवाले पूज्य श्री कानजीस्वामी से उनकी ही जन्म-जयंती के अवसर पर दिनांक २८-४-७९ को बंबई में सायंकालीन तत्त्वचर्चा के समय हजारों मुमुक्षु बंधुओं के बीच संपादक आत्मधर्म द्वारा लिया गया इंटरव्यू जन-जन की जानकारी के लिये यहाँ प्रस्तुत है। 卐

क्रमबद्धपर्याय

'क्रमबद्धपर्याय' पर हुए स्वामीजी के प्रवचन यद्यपि 'ज्ञेयस्वभाव-ज्ञानस्वभाव' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं; तथापि उनके ताजे विचार समाज को प्राप्त हों—यही उद्देश्य रहा है इस इंटरव्यू का।

ध्यान रहे टेप के आधार पर संपादित यह इंटरव्यू पूज्य स्वामीजी को दिखा लिया गया है।

卐 卐 卐 क्रमबद्धपर्याय 卐 क्रमबद्धपर्याय 卐 क्रमबद्धपर्याय 卐 卐 卐

'धर्म का मूल सर्वज्ञ है, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हुए बिना सर्वज्ञ का निर्णय नहीं हो सकता। धर्म का आरंभ ही क्रमबद्ध के निर्णय से होता है। इसका निर्णय करना बहुत जरूरी है।'

उक्त शब्द पूज्य कानजीस्वामी ने तब कहे जब उनसे कहा गया कि ''आत्मधर्म के संपादकीय में 'क्रमबद्धपर्याय' के संबंध में हम एक लेखमाला चला रहे हैं, उसे बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित किया जायेगा। आपने इस युग में 'क्रमबद्धपर्याय' का एक प्रकार से उद्घाटन ही किया है। इसके संदर्भ में उठनेवाली अनेक शंकाओं-आशंकाओं के संबंध में आपके ताजे विचार पाठकों तक पहुँचाना बहुत उपयोगी रहेगा। यदि आपकी अनुमति हो तो कुछ बातें आपसे पूछूँ?''

वे अपनी बात आरंभ करते हुए बोले—''भाई! तुम्हें जो पूछना हो पूछो, हम कब मना करते हैं? समझने के लिये जिज्ञासा भाव से पूछनेवाले आत्मार्थियों के लिये तो हमारा दरवाजा सदा ही खुला रहता है। वाद-विवाद करनेवालों के लिये हमारे पास समय नहीं है। वाद-विवाद में कोई सार तो निकलता नहीं। चर्चा के लिये तो कोई मनाई नहीं है।

पंडित टोडरमलजी ने रहस्यपूर्ण चिट्ठी में लिखा है कि—'साधर्मी के तो परस्पर चर्चा ही चाहिए।'

क्रमबद्धपर्याय पर लिखकर तुम अच्छा ही कर रहे हो। कम से कम लोगों का ध्यान तो इस ओर जायेगा। जिसकी भली होनहार होगी, उनके ध्यान में बात जमेगी भी। 'धर्म का मूल सर्वज्ञ है', क्रमबद्ध का निर्णय हुए बिना सर्वज्ञ का निर्णय नहीं हो सकता। धर्म का आरंभ ही क्रमबद्धपर्याय के निर्णय से होता है। इसका निर्णय करना बहुत जरूरी है।''

प्रश्न - ''आप तो पर्याय पर दृष्टि रखनेवाले को पर्यायमूढ़ कहते हो?''

उत्तर - ''हम क्या कहते हैं, प्रवचनसार में लिखा है :—

'पज्जयमूढा हि परसमया'

प्रश्न - ''क्रमबद्धपर्याय भी तो एक पर्याय है, फिर उसका निर्णय करना क्यों आवश्यक है?''

उत्तर - ''क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करना तो आवश्यक है, पर वह दृष्टि का विषय नहीं है।

एक बात और भी ध्यान रखो कि पर्याय का निर्णय पर्याय के आश्रय से नहीं होता, किंतु द्रव्य के आश्रय से होता है। ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होता है। अत: यह कहा जाता है कि—आश्रय करनेयोग्य एकमात्र अपना ज्ञायकस्वभाव ही है, पर्याय आश्रय करनेयोग्य नहीं है।''

प्रश्न - ''तो फिर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करें या नहीं?''

उत्तर - ''निर्णय तो करो, आश्रय मत करो। हम आश्रय करने का निषेध करते हैं, तो तुम निर्णय करने का निषेध करने लगते हो? हम तो यह कहते हैं कि ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से क्रमबद्ध का निर्णय होगा। अत: क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने के लिए ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करो। ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से क्रमबद्ध का निर्णय सहज हो जायेगा। क्रमबद्ध के

निर्णय करने की जरूरत तो है ही, आश्रय करने की जरूरत नहीं।

क्रमबद्ध का निर्णय तो महापुरुषार्थ का कार्य है। उससे सारी दृष्टि ही पलट जाती है। यह कोई साधारण बात नहीं है। यह तो जैनदर्शन का मर्म है।''

प्रश्न – ''जब सब-कुछ क्रमबद्ध ही है तो फिर जब हमारी क्रमबद्धपर्याय में क्रमबद्ध का निर्णय होना होगा तब हो जाएगा। उसके पहिले क्रमबद्धपर्याय हमारी समझ में भी कैसे आ सकती है ? मान लो हमारी समझ में क्रमबद्ध आने में अनंत भव बाकी हैं—तो अभी कैसे आ सकती है ?''

उत्तर – ''यह बात किसके आश्रय से कहते हो ? क्या तुम्हें क्रमबद्ध का निर्णय हो गया है ? नहीं, तो फिर यह कहने का तुम्हें क्या अधिकार है ? जिसे क्रमबद्ध का निर्णय हो जाता है, उसे ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता है। क्रमबद्ध की श्रद्धावाले के अनंत भव ही नहीं होते। क्रमबद्ध की श्रद्धा तो भव का अभाव करनेवाली है। जिसके अनंत भव बाकी हों उसकी समझ में क्रमबद्ध आ ही नहीं सकती; क्योंकि उसकी दृष्टि ज्ञायक के सन्मुख नहीं होती और ज्ञायक के सन्मुख दृष्टि हुए बिना क्रमबद्धपर्याय समझ में नहीं आती है।

ज्ञायक के सन्मुख होकर जहाँ क्रमबद्ध का निर्णय किया वहाँ भव उड़ जाते हैं। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होने पर निर्मल पर्याय मेरा कर्म और मैं उसका कर्ता—यह बात भी नहीं रहती। पर्याय स्वसमय पर होगी ही—ऐसी श्रद्धा होने से उसे करने की कोई व्याकुलता नहीं रहती। मुझे भव नहीं—इसप्रकार की नि:शंकता प्रकट हो जाती है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में कर्तापन की बुद्धि उड़ जाती है, और ज्ञातापन की बुद्धि प्रकट हो जाती है—यह उसका फल है। यदि कर्ताबुद्धि न उड़े तो समझना चाहिए कि अभी उसकी समझ में क्रमबद्धपर्याय आई नहीं है।''

प्रश्न – ''अभी आपने फरमाया कि क्रमबद्धपर्याय का निर्णय पर्याय पर दृष्टि रखने से नहीं होगा, त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखने से होगा तो फिर क्रमबद्धपर्याय के निर्णय की जरूरत ही क्या है ? बस हम तो ज्ञायकस्वभाव का आश्रय ले लें न ?''

उत्तर – ''ले सकते हो तो ले लो न, कौन मना करता है ? पर विकल्प में पर्याय की स्वतन्त्रता का निर्णय हुए बिना पर्याय पर से दृष्टि हटती कहाँ है ? और ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि जाये बिना क्रमबद्धपर्याय का भी सच्चा निर्णय नहीं होता है। तथा ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि जाने

पर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो ही जाता है। अत: क्रमबद्धपर्याय के निर्णय नहीं करने की बात कहाँ रही ? ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि जाने के पहिले आगम व युक्ति के आधार पर विकल्पात्मक निर्णय तो हो सकता है, सच्चा नहीं। पर विकल्पात्मक निर्णय भी तो जरूरी है, उसके बिना पर्याय की महिमा हटती ही नहीं, पर्याय से दृष्टि हटती ही नहीं।''

प्रश्न - ''तो इसका मतलब यह हुआ कि पहिले आगम और युक्ति के आधार पर विकल्पात्मक ज्ञान में क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करें, फिर जब हमारी दृष्टि पर्याय पर से हटकर ज्ञायकस्वभाव पर जाएगी—स्थिर होगी तब क्रमबद्धपर्याय की सच्ची श्रद्धा होगी ?''

उत्तर - ''हाँ, भाई ! बात तो ऐसी ही है।''

प्रश्न - ''आगम के आधार पर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करें—यह बात तो ठीक, पर लोगों का तो यह कहना है कि शास्त्रों में तो कहीं क्रमबद्धपर्याय आई नहीं है—यह तो आपने नई निकाली है।''

उत्तर - ''नहीं, भाई ! ऐसी बात नहीं है। शास्त्रों में अनेक स्थानों पर क्रमबद्ध की बात आती है। समयसार के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में है। वहाँ आत्मख्याति टीका में 'क्रमनियमित' ऐसा मूल पाठ है।''

प्रश्न - ''क्रमनियमित' का अर्थ क्या है ?''

उत्तर - ''क्रमनियमित शब्द में क्रम अर्थात् क्रमसर (नंबरवार) तथा नियमित अर्थात् निश्चित। जिस समय जो पर्याय आनेवाली है वही आएगी, उसमें फेरफार नहीं हो सकता।''

प्रश्न - ''समयसार में तो है, पर किसी और भी शास्त्र में है या नहीं ? समयसार तो आपका ही शास्त्र है।''

उत्तर - ''लो, यह अच्छी बात कही। सयसार हमारा कैसे है ? हम तो उसे पढ़ते हैं, है तो वह परमपूज्य दिगम्बराचार्य कुंदकुंददेव का।

प्रवचनसार में भी गाथा ९९, १००, १०१ व १०२ में है। विस्तार से सब बात कही है। जन्मक्षण और स्वअवसर की बात आती है। आकाश के प्रदेशों (विस्तारक्रम) का उदाहरण देकर कालक्रम (प्रवाहक्रम) समझाया है। जैसे—जो प्रदेश जहाँ-जहाँ है, वह वहीं-वहीं रहता है, उसमें आगे-पीछे होना संभव नहीं। उसीप्रकार जो-जो पर्यायें जिस-जिस काल में होनी हैं, वे-वे पर्यायें उसी-उसी काल में होंगी, उनका आगे-पीछे होना संभव नहीं।

प्रत्येक पर्याय स्वयंसत् है, अहेतुक है। समयसार के बंधाधिकार में पर्याय को अहेतुक कहा है।''

प्रश्न – ''पर्याय अहेतुक तो है, पर इसके बाद यही होगी – यह कैसे हो सकता है ?''

उत्तर – ''इसमें नहीं हो सकने की क्या बात है ? इसके बाद यही होगी; जो होनेवाली है, वही होगी—ऐसा ही है। मोतियों के हार का दृष्टांत देकर समझाया है न ? जैसे—माला में जो मोती जहाँ हैं, वहीं रहेंगे। यदि उन्हें आगे-पीछे करें तो माला टूट जाएगी; उसीप्रकार जो पर्याय जिस समय होनी होगी, उसी समय होगी, आगे-पीछे करने से वस्तुव्यवस्था ही न बनेगी। उसके आगे-पीछे होने का कारण क्या है ? वह अकारण तो आगे-पीछे हो नहीं जावेगी। यदि कोई कारण है तो फिर पर्याय अहेतुक नहीं रहेगी।''

प्रश्न – ''प्रवचनसार भी तो कुंदकुंद का ही है। क्या किन्हीं और आचार्यों के शास्त्रों में क्रमबद्ध की बात नहीं आती ?''

उत्तर – ''क्यों नहीं आती ? कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा ३२१ से ३२३ तक में आती है। चारों ही अनुयोगों के शास्त्रों में किसी न किसी रूप में यह बात आती है।

फिर सर्वज्ञता की बात तो सभी शास्त्रों में है। यदि सीधी समझ में नहीं आती है तो सर्वज्ञता के आधार पर क्रमबद्धपर्याय समझनी चाहिये। 'केवलज्ञानी ने जैसा देखा होगा—वैसा ही होगा' का यही अर्थ तो होता है कि भविष्य में जिस समय जो पर्याय होनी है, वही होगी।''

प्रश्न – ''आप क्रमबद्धपर्याय को सिद्ध करने में सर्वज्ञता का सहारा क्यों लेते हैं ? सीधा ही समझाइये न ?''

उत्तर – ''अरे भाई ! हमने तो यह कहा है कि जब सीधा समझ में न आ सके तो सर्वज्ञता का सहारा लेना चाहिये, क्योंकि सर्वज्ञता के आधार पर समझने में सरलता रहती है।''

प्रश्न – ''सर्वज्ञता के आधार पर समझने में सरलता कैसे रहती है ?''

उत्तर – ''सर्वज्ञ भगवान तीन लोक के समस्त द्रव्यों और उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को एकसाथ जानते हैं। भूतकाल और वर्तमान पर्यायों के साथ-साथ वे भविष्य में होनेवाली पर्यायों को भी जानते हैं।''

प्रश्न – ''जानते हैं का क्या तात्पर्य है ?''

उत्तर – ''यही कि जिस द्रव्य की जो पर्याय भविष्य में जिस समय जैसी होनी है, उसे

सर्वज्ञ अभी जानते हैं। अत: जो भावी पर्यायें सर्वज्ञ के ज्ञान में जैसी आई हैं, वे वैसी ही होंगी, उनमें कोई फेरफार संभव नहीं है।

केवलज्ञान (सर्वज्ञता) का निर्णय अर्थात् अरहंत का निर्णय। प्रवचनसार गाथा ८० में आता है कि जो अरहन्त भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से, और पर्यायरूप से जानता है, उसका मोह नाश होता है।

हमें त्रेसठ वर्ष पहले फाल्गुन सुदी १४ के दिन यही भाव अंदर से आया था। शब्द ख्याल में नहीं थे, वाचन भी नहीं था, पर भाव यही ख्याल में आया था।''

प्रश्न - ''केवली भगवान भूत-भविष्य की पर्यायों को द्रव्य में योग्यतारूप जानते हैं अथवा उन पर्यायों को वर्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं ?''

उत्तर - ''प्रत्येक पदार्थ की भूत और भविष्यकाल की पर्यायें वर्तमान में अविद्यमान-अप्रकट होने पर भी सर्वज्ञ भगवान उन्हें वर्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं। अनंत काल पहले हो चुकी भूतकाल की पर्यायें और अनंत काल पश्चात् होनेवाली भविष्य की पर्यायें अविद्यमान होने पर भी केवलज्ञान वर्तमान की तरह प्रत्यक्ष जानता है।

आहाहा! जो पर्यायें हो चुकीं और होनेवाली हैं; ऐसी भूत-भविष्य की पर्यायों को प्रत्यक्ष जाने उस ज्ञान की दिव्यता का क्या कहना ? केवली भगवान भूत-भविष्य की पर्यायों को द्रव्य में योग्यतारूप जानते हैं—ऐसा नहीं है। किंतु उन सभी पर्यायों को वर्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं, यही सर्वज्ञ के ज्ञान की दिव्यता है। भूत-भविष्य की अविद्यमान पर्यायें केवलज्ञान में विद्यमान ही हैं। ओहो! एक समय की केवलज्ञान की पर्याय की ऐसी विस्मयता और आश्चर्यता है, तो पूरे द्रव्य की सामर्थ्य कितनी विस्मयपूर्ण और आश्चर्यजनक होगी ? उसका क्या कहना ?

आहाहा! पर्याय का गुलांट मारना यह कोई छोटी बात है ? पर्याय तो अनादि से पर में ही जा रही है, उसको पलटकर अंदर में ले जाना है। गहराई में ले जाना महान पुरुषार्थ का कार्य है। परिणाम में अपरिणामी भगवान के दर्शन हो जायें यह पुरुषार्थ अपूर्व है।''

प्रश्न - ''केवली भगवान निश्चय से तो केवल अपने आपको जानते हैं, पर को तो वे व्यवहार से जानते हैं, ऐसा नियमसार में कहा है। और समयसार में व्यवहार को झूठा कहा है।

झूठा अर्थात् असत्यार्थ..... इसका अर्थ क्या ?''

उत्तर – ''व्यवहार है ही नहीं—ऐसा उसका अर्थ नहीं है। व्यवहार जानने लायक है ऐसा १२वीं गाथा में कहा है। वह जाना हुआ प्रयोजनवान है। सर्वथा झूठा नहीं है, उसे गौण करके असत्यार्थ कहा है। प्रवचनसार की टीका में पांडे हेमराजजी ने कहा है कि व्यवहार को गौण करके असत्य कहा है, अभाव करके असत्य नहीं कहा है।''

प्रश्न – ''तो क्या केवली पर को जानते नहीं ?''

उत्तर – ''कौन कहता है ? जानते तो वे सभी पदार्थ हैं।''

प्रश्न – ''फिर उनके पर के जानने को व्यवहार क्यों कहा ?''

उत्तर – ''पर है – इसलिए तथा तन्मय होकर नहीं जानते – इसलिए भी।''

प्रश्न – ''क्रमबद्ध मानने से सब गड़बड़ हो जाता है ?''

उत्तर – ''गड़बड़ तो क्रमबद्ध नहीं मानने से होता है। क्रमबद्ध मानने से तो सब गड़बड़ उड़ जाती है। वस्तु में तो कहीं गड़बड़ है नहीं, वह तो पूर्ण व्यवस्थित है। अज्ञानी की मति ही गड़बड़ा रही है। सो क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा से मति व्यवस्थित हो जाती है।''

प्रश्न – ''जब हमारे करने से कुछ होता ही नहीं है तो फिर कोई कार्य क्यों करेगा ? जब कोई बनाएगा नहीं तो यह पण्डाल कैसे बनेगा ? कारखाने कैसे चलेंगे ? सारी व्यवस्था ही गड़बड़ा जाएगी।''

उत्तर – ''कौन पंडाल बनाता है, कौन कारखाने चलाता है ? अज्ञानी पंडाल बनाने और कारखाने चलाने का अभिमान करते हैं—यह तो सही है, पर बनाता या चलाता कोई किसी को नहीं। जब एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अत्यंत अभाव है, तब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में क्या कर सकता है ? अत्यंत अभाव का अर्थ क्या ? यही कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता भी नहीं है। छुए तो अभाव नहीं रहे।''

प्रश्न – ''यदि आप ऐसा उपदेश देंगे तो लोग आलसी हो जाऐंगे। जब उसके करने से कुछ होता ही नहीं तो कोई पुरुषार्थ क्यों करेगा ?''

उत्तर – ''क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में ही सच्चा पुरुषार्थ है। क्योंकि क्रमबद्ध का निर्णय करने में ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि जाती है। जिसप्रकार ज्ञायक में भव नहीं; उसीप्रकार क्रमबद्ध के निर्णय करनेवाले को भी भव नहीं होते, एक-दो भव रहते हैं, वे भी ज्ञेय तरीके से रहते हैं।

अपनी मति में क्रमबद्ध की व्यवस्था को व्यवस्थित करना ही सच्चा पुरुषार्थ है।''

प्रश्न – ''पर्याय तो व्यवस्थित ही होनेवाली है अर्थात् पुरुषार्थ की पर्याय तो जब उसके प्रकट होने का काल आएगा तभी प्रकट होगी—ऐसी स्थिति में अब करने को क्या रह गया ?''

उत्तर – ''व्यवस्थित पर्याय है—ऐसा जाना कहाँ से ? व्यवस्थित पर्याय द्रव्य में है, तब तो द्रव्य के ऊपर ही दृष्टि करनी है। पर्याय के क्रम के ऊपर दृष्टि न करके, क्रमसरपर्याय जिसमें से प्रकट होती है—ऐसे द्रव्यसामान्य के ऊपर ही दृष्टि करनी है, क्योंकि उस पर दृष्टि करने में अनंत पुरुषार्थ आ जाता है। क्रमबद्ध के सिद्धांत से अकर्तापना सिद्ध होता है, क्रम के समक्ष देखना नहीं।''

प्रश्न – ''क्रमबद्ध में करने के लिए क्या आया ?''

उत्तर – ''करना है कहाँ ? करने में तो कर्तृत्वबुद्धि आती है। करने की बुद्धि छूट जाए यह क्रमबद्ध है। क्रमबद्ध में कर्तृत्वबुद्धि छूट जाती है। पर में तो कुछ कर सकता ही नहीं, अपने में भी होनेवाला है, वही होता है अर्थात् अपने में भी जो राग होना है, वह होता है, उसका क्या करना ? राग में भी कर्तृत्वबुद्धि छूट गयी, भेद और पर्याय से भी दृष्टि हट गयी, तब क्रमबद्ध की प्रतीति हुई। क्रमबद्ध की प्रतीति में तो ज्ञातादृष्टा हो गया, निर्मल पर्याय करूँ ऐसी बुद्धि भी छूट गयी, राग को करूँ यह बात तो दूर रह गयी। अरे ! ज्ञान करूँ, यह बुद्धि भी छूट जाती है, कर्तृत्वबुद्धि भी छूट जाती है और अकेला ज्ञान रह जाता है। जिसे राग करना है, राग में अटकता है, उसे क्रमबद्ध की बात जमी ही नहीं। राग को करना, राग को छोड़ना—यह भी आत्मा में नहीं है। आत्मा तो अकेला ज्ञानस्वरूप है।

पर की पर्याय तो जो होनेवाली है, वह तो होती ही है, उसे मैं करूँ ही क्या ? और मेरे में जो राग आता है, उसे मैं क्या लाऊँ ? और मेरे में जो शुद्ध पर्याय आए उसको करूँ-लाऊँ—ऐसे विकल्प से भी क्या ? अपनी पर्याय में होनेवाला राग और होनेवाली शुद्ध पर्याय उसको करने का विकल्प क्या ? राग और शुद्ध पर्याय के कर्तृत्व का विकल्प शुद्ध स्वभाव में है ही नहीं। अकर्तापना आ जाना ही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है।''

प्रश्न – ''क्रमबद्धपर्याय की बात कहकर आप सिद्ध क्या करना चाहते हैं ?''

उत्तर – ''क्रमबद्ध के सिद्धांत से मूल तो अकर्तापना सिद्ध करना है। जैनदर्शन अकर्तावादी है। आत्मा परद्रव्य का तो कर्ता है ही नहीं, राग का भी कर्ता नहीं, और पर्याय का भी कर्ता नहीं। पर्याय अपने ही जन्मक्षण में अपने ही षट्कारक से स्वतंत्ररूपेण जो होनेयोग्य

है, वही होती है। परंतु इस क्रमबद्ध का निर्णय पर्याय के लक्ष से नहीं होता। क्रमबद्ध का निर्णय करने जाए तो शुद्ध चैतन्य ज्ञायकधातु के ऊपर दृष्टि जाती है और तभी जाननेवाली जो पर्याय प्रकट होती है, वह क्रमबद्धपर्याय को जानती है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय स्वभाव सन्मुख वाले अनंत पुरुषार्थपूर्वक होता है। क्रमबद्ध के निर्णय का तात्पर्य वीतरागता है और यह वीतरागता पर्याय में तभी प्रकट होती है, जब वीतराग स्वभाव के ऊपर दृष्टि जाती है। समयसार गाथा ३२० में कहा है कि ज्ञान बंध-मोक्ष का कर्ता नहीं है, किंतु जानता ही है। आहाहा! मोक्ष को ज्ञान जानता है; मोक्ष को करता है—ऐसा नहीं कहा। अपने में होनेवाली क्रमसरपर्याय का कर्ता है—ऐसा नहीं; किंतु जानता है—ऐसा कहा; गजब बात है।''

प्रश्न - ''जब कुछ करना ही नहीं है, तो फिर आप आत्मा का अनुभव करने का—ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख दृष्टि करने का उपदेश क्यों देते हैं?''

उत्तर - ''हम कहाँ देते हैं उपदेश? वाणी तो जड़ है, अत: जड़ के कारण निकलती है। परमपूज्य अमृतचन्द्राचार्यदेव आत्मख्याति के अंत में लिखते हैं कि टीका हमने लिखी है—ऐसा जानकर मोह में मत नाचो। यह तो अक्षरों और शब्दों की परिणति है, हमारी नहीं। भाषा तो हमारी है ही नहीं, समझाने के विकल्प को भी ज्ञानी अपना नहीं मानता। हम तो पर को और विकल्प को भी मात्र जानते हैं और वह भी व्यवहार से, निश्चय से तो हम मात्र अपने को जानते हैं।''

प्रश्न - ''सभी गुणों का कार्य व्यवस्थित ही है तो फिर पुरुषार्थ करना भी रहता नहीं?''

उत्तर - ''जिसको क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में पुरुषार्थ भासित नहीं होता, उसको व्यवस्थितपना बैठा ही कहाँ है?''

प्रश्न - ''उसको व्यवस्थितपने का श्रद्धान नहीं हुआ तो उसका वैसा परिणमन भी तो व्यवस्थित ही है। वह व्यवस्थितपने का निर्णय नहीं कर सका यह बात भी तो व्यवस्थित ही है। ऐसी दशा में निर्णय करने की कथा करना व्यर्थ ही है?''

उत्तर - ''उसका परिणमन व्यवस्थित ही है ऐसी उसे खबर कब है? परिणमन व्यवस्थित है—ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है, परंतु उसे सर्वज्ञ का निर्णय ही कहाँ है? प्रथम वह सर्वज्ञ का निर्णय तो करे? पश्चात् उसे व्यवस्थित की खबर पड़े।''

प्रश्न – ''व्यवस्थित परिणमनशील वस्तु है, इसप्रकार भगवान के कथन की श्रद्धा उसे है ?''

उत्तर – ''नहीं, सर्वज्ञ भगवान का सच्चा निर्णय उसको कहाँ है ? पहले सर्वज्ञ का निश्चय हुए बिना व्यवस्थित का निर्णय कहाँ से आया ? मात्र ज्ञानी की बातें सुन-सुनकर वैसा-वैसा ही कहे तो इससे काम नहीं चलेगा, प्रथम सर्वज्ञ का निर्णय तो करो। द्रव्य का निर्णय किये बिना सर्वज्ञ का निर्णय वास्तव में हो सकता नहीं।''

प्रश्न – ''आप समझाते भी जाते हैं और कहते भी जाते हैं कि हम कहाँ समझाते हैं ?''

उत्तर – ''कौन समझाता है ? कहा न कि भाषा के कारण भाषा होती है, विकल्प के कारण विकल्प होता है और उसी समय भाषा और विकल्प का ज्ञान अपने कारण होता है। इसमें हमारा कर्तापना कहाँ रहा ?''

प्रश्न – ''इसीलिए तो लोग कहते हैं कि आपकी करनी और कथनी में अंतर है ?''

उत्तर – [अत्यंत गंभीर होकर] ''वस्तुस्वरूप ऐसा है, हम क्या करें ? जैसा श्रद्धान, ज्ञान और वचन है वैसा चारित्र भी होना चाहिए, वह अभी नहीं है; पर श्रद्धा में फेर नहीं है। करनी और कथनी का यह अंतर तो है ही। पर यह अंतर तो क्षायकसम्यग्दृष्टि भरतादि चक्रवर्तियों के भी था। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सभी ज्ञानियों के होता है—इसमें हम क्या करें ?''

प्रश्न – ''यदि यह श्रद्धा और चारित्र का भेद मिट जावे तो बहुत अच्छा रहे ?''

उत्तर – ''मिट जाए तो क्या कहना ? हम भी तो निरंतर यही भावना भाते हैं, पर ऋषभदेव के भी ८३ लाख पूर्व तक चारित्रदोष रहा था। एक गुण दूसरे गुण में दोष उत्पन्न नहीं करता—यह महासिद्धांत है, अन्यथा सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। चारित्र और वीर्य में दोष है, परंतु सम्यग्दर्शन में दोष नहीं है।''

अंत में चर्चा में बैठे हुए हजारों लोगों को संबोधित करते हुए स्वामीजी बोले— ''आज अच्छी चर्चा रही, पंडितजी ने अच्छे प्रश्न किये।''

''क्रमबद्ध तो बापू जैनदर्शन का मस्तक है, जैनदर्शन की आँख है, वस्तुस्वभाव की मर्यादा है। इसे समझना और निस्संदेह होना बड़ी अलौकिक बात है। आज भले ही इसे कम लोग समझते हों, पर सुनते हजारों लोग बड़े प्रेम से हैं। सुनें.... भाई सुनें..... सभी सुनें.... पढ़ें..... और सबका कल्याण हो'' कहते हुए उन्होंने अपनी बात समाप्त की। ❋

क्या शरीर की प्रशंसा केवली की स्तुति है?

परमपूज्य आचार्य कुंदकुंद के सर्वोत्तम ग्रंथराज समयसार की उनतीसवीं व तीसवीं गाथा तथा उसमें समागत पच्चीसवें तथा छब्बीसवें कलश पर हुए पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचनों का संक्षिप्त सार यहाँ दिया जा रहा है। मूल गाथायें इसप्रकार हैं:—

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि॥२९॥
णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति॥३०॥

वह स्तवन निश्चय से योग्य नहीं है, क्योंकि शरीर के जो गुण हैं वे केवली के नहीं हैं; जो केवली के गुणों की स्तुति करता है, वह परमार्थ से केवली की स्तुति करता है।

जैसे नगर का वर्णन करने पर भी राजा का वर्णन नहीं होता; उसीप्रकार देह के गुणों का स्तवन करने से केवली के गुणों का स्तवन नहीं होता।

सत्ताईसवीं गाथा में आचार्यदेव ने कहा था कि व्यवहारनय जीव और देह दोनों को एक कहता है और निश्चयनय दोनों को भिन्न कहता है। इसी संदर्भ में अट्ठाईसवीं गाथा में कहा था कि जीव से भिन्न देह की स्तुति करके व्यवहारनय से साधु ऐसा मानते हैं कि हमने केवली भगवान की स्तुति की। अब उनतीसवीं गाथा में आचार्यदेव फरमाते हैं कि परमार्थ से शरीर की स्तुति करने से केवली भगवान के गुणों का स्तवन नहीं होता।

जिसप्रकार सोनें में चाँदी के सफेद गुण का अभाव है, इसलिए निश्चय से सफेदी के नाम से सोने का नाम नहीं बनता, किंतु सोने के पीतादि गुणों से ही सोने का नाम बनता है; उसीप्रकार तीर्थंकर-केवलीपुरुष में शरीर के शुक्ल-रक्तता आदि गुणों का अभाव है, अत: शुक्लता-रक्तता आदि गुणों का स्तवन करने से तीर्थंकर-केवलीपुरुष का स्तवन नहीं होता।

देखे! अट्ठाईसवीं गाथा में व्यवहारनय की कथनपद्धति बताते हुए कहा था कि सोने और चाँदी को गलाकर एक पिण्ड किया जाता है और उसे व्यवहार से श्वेतस्वर्ण कहा जाता है; परंतु यहाँ कहते हैं कि सोने में श्वेत वर्ण का अभाव है, इसलिए निश्चय से सफेदी के नाम से सोने का नाम नहीं बनता। इसप्रकार पहले व्यवहार का स्थापन करके फिर निश्चय द्वारा उसका निषेध किया जाता है।

पहले कहा था कि मुनिराज शरीर के स्तवन द्वारा भगवान का स्तवन हुआ ऐसा व्यवहारनय से मानते हैं। अब यहाँ कहते हैं कि परमार्थ से शरीर का स्तवन करने से भगवान की सच्ची स्तुति नहीं होती।

जिसप्रकार स्वर्ण में चाँदी के गुणों का अभाव है; उसीप्रकार भगवान के आत्मा में उनके शरीर में पाये जानेवाले एक हजार आठ लक्षणों का अभाव है। शरीर और वाणी जड़ हैं, इसलिए भगवान के आत्मा में शरीर और वाणी का किंचित भी कर्तृत्व नहीं है। अतः परमार्थ से शरीर और वाणी की स्तुति भगवान की स्तुति नहीं है।

शरीर का स्तवन करने से भगवान का स्तवन नहीं होता, परंतु भगवान के आत्मा के गुणों का स्तवन करने से भगवान का स्तवन होता है। वास्तव में देखा जाये तो भगवान के गुणों का स्तवन करने से निश्चय से अपने आत्मा का ही स्तवन होता है और यही सच्ची परमार्थस्तुति है।

देव-गुरु-शास्त्र के लक्ष्य से होनेवाले शुभभावों को छोड़कर, स्वभाव की श्रद्धापूर्वक स्वरूप में स्थिर होना ही सच्ची परमार्थस्तुति है। जो स्वरूप में स्थिर होता है, वह केवली के गुण गाता है, अर्थात् वह स्वयं ही अंशतः केवली होता है। अपने में स्थिर हुआ सो स्वयं ही परमार्थ से अंशतः भगवान हुआ। भगवान के लक्ष्य से होनेवाले परसन्मुख राग को छोड़कर आंशिक वीतराग होना ही निश्चय से भगवान की स्तुति है। भगवान के गुणगान करते समय जो स्वभाव की दृष्टि हुई वह धर्म है और जो शुभभाव हुआ वह पुण्य है।

धर्म क्या है? और कैसे होता है? अनादिकाल से यह बात लोगों ने सुनी नहीं है। बाह्य क्रिया में ही लोगों ने धर्म मान रखा है। परंतु आत्मा तो शरीराश्रित व्रतादि की क्रिया कर ही नहीं सकता, अतः बाह्य क्रिया में धर्म कैसे हो सकता है? देह से भिन्न ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा को पहिचानने से ही धर्म होता है।

जिसे आत्मानुभव होता है उसे शुभभाव भी अलौकिक होता है। महाराजा श्रेणिक को

आत्मप्रतीति की भूमिका में तीर्थंकर प्रकृति के बँधनेयोग्य शुभभाव हुए थे। आत्मानुभव बिना ऐसे शुभभाव भी नहीं होते।

लोग कहते हैं कि ऐसी बारीक बातें समझना तो कठिन मालूम होता है। इससे अच्छा तो व्रतादि पालें तो क्या धर्म नहीं हो सकता? परंतु भाई! यह बातें कठिन नहीं, बल्कि प्रथम भूमिका की बातें हैं। मैं कौन हूँ? मेरा स्वरूप क्या है? बाह्य व्रतादि की क्रिया मैं कर सकता हूँ या नहीं? तथा व्रतादि के शुभभाव से मुझे धर्म होगा या पुण्य बन्ध होगा? इन सब बातों को पहले समझना पड़ेगा। यह समझे बिना अनंत बार व्रतादि का शुभभाव भी किया, परंतु अभी तक भव का अंत नहीं आया।

सर्वप्रथम शरीर और आत्मा का भिन्न-भिन्न स्वरूप जानकर आत्मा का अनुभव करना चाहिये। इसलिए यहाँ समझाते हैं कि शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन नहीं होता।

यह सुनकर शिष्य प्रश्न करता है कि प्रभो! आत्मा तो शरीर का अधिष्ठाता-स्वामी है; इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन निश्चय से युक्त क्यों नहीं है? आत्मा शरीर की हलन-चलन आदि क्रियाओं का कर्ता होने से शरीर का अधिष्ठाता है—ऐसा सभी लोग मानते हैं, परंतु आप शरीर के गुणों को भगवान के गुणों पर आरोपित करना उचित क्यों नहीं मानते? शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, ऐसी नयी बात आपने कहाँ से ढूँढ़ निकाली?

आचार्यदेव शिष्य के उक्त प्रश्न का उत्तर तीसवीं गाथा में उदाहरण सहित देते हुए कहते हैं:—

जैसे नगर का वर्णन करने पर भी राजा का वर्णन नहीं होता; उसीप्रकार देह के गुणों का स्तवन करने से केवली के गुणों का स्तवन नहीं होता।

जैसे कोई व्यक्ति नगर का वर्णन करे कि यह नगर बहुत सुंदर है, इसमें सुंदर-सुंदर बाग-बगीचे हैं और बड़े-बड़े बाजार हैं; किंतु इसप्रकार नगर के गुण गाने से राजा का गुण-गान नहीं होता। ऐसे सुंदर नगर का राजा अधर्मी और लम्पटी तथा प्रजा पर अनुचित कर लगानेवाला हो सकता है; अथवा न्यायप्रिय, धर्मात्मा एवं नीतिवान भी हो सकता है। इसलिए नगर के वर्णन से राजा का वर्णन नहीं होता, क्योंकि नगर और राजा दोनों भिन्न भिन्न हैं।

राजा का वर्णन तो राजा के गुणों के कथन से होता है कि यह राजा अत्यंत शीलवान, नीतिवान, उदार व शूरवीर है। नगर की प्रशंसा से राजा का वर्णन नहीं होता।

जिसप्रकार नगर के वर्णन से राजा का वर्णन नहीं होता; उसीप्रकार भगवान के शरीर के वर्णन से भगवान का गुणगान नहीं होता। देह और आत्मा द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों अपेक्षा से परस्पर भिन्न-भिन्न ही हैं, इसलिए आत्मा शरीर का अधिष्ठाता नहीं है।

शरीर तो अनंत परमाणुओं का स्कंध है। परमाणु वस्तु है, उसमें रंग-गंध आदि अनंत गुण हैं। तथा लाल-पीला, सुगंध-दुर्गंध आदि रंग और गंध गुण की पर्यायें हैं। वस्तु और गुण स्थायी हैं तथा पर्याय प्रतिक्षण बदलती रहती है। शरीर तो परमाणुओं की अवस्था है, परमाणुओं की अवस्था स्वतंत्रया अपनी योग्यता से स्वयं होती है, शरीररूप अवस्था आत्मा के कारण नहीं होती।

आत्मा भी वस्तु है, उसमें ज्ञान-दर्शन आदि अनंत गुण हैं और प्रत्येक गुण की अवस्था निरंतर बदलती रहती है। आत्मा अनंत ज्ञान-दर्शन-चारित्र, सहज आह्लादरूप आनंद आदि अनंत शक्तियों का अखंड घनपिंड अतीन्द्रिय महापदार्थ है, उसकी रुचि करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि निर्मल अवस्थाऐं प्रकट होती हैं। परंतु ज्ञानस्वभावी आत्मा को भूलकर देह में एकत्वबुद्धि करने से मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयमरूप पर्यायें प्रकट होती हैं। जिसकी जैसी रुचि होती है, उसकी वैसी ही अवस्था होती है। यह आत्मा मिथ्या रुचि से मलिन अवस्था को अथवा सम्यक् रुचि से निर्मल पर्याय को प्राप्त होता है, किंतु जड़ की अवस्था का कर्ता तो त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। अज्ञानी भ्रांतिवश आत्मा को पर का कर्ता मानता है; परंतु देह और आत्मा वस्तुदृष्टि से, गुणदृष्टि से और पर्यायदृष्टि से सभी प्रकार भिन्न ही हैं; इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन नहीं होता।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, खंडेलवाल, अग्रवाल आदि शरीर की अवस्थाओं को आत्मरूप अनुभव करना मिथ्यात्व है, क्योंकि आत्मा ब्राह्मण, वैश्य आदि नहीं है तथा वह किसी जाँत-पाँतवाला भी नहीं है। आत्मा तो सहज ज्ञान-आनंद-वीर्यादि अनंत गुणों की मूर्ति है।

द्रव्य और गुणों की अपेक्षा तो सभी आत्माएँ समान हैं; परंतु पर्याय में संसार और मोक्ष ऐसी दो प्रकार की अवस्थाएँ हैं। आत्मा की प्रतीति करने से मुक्ति और आत्मा को भूलने से संसार है। विपरीत दृष्टि से ही संसार और आत्म-सम्मुख दृष्टि ही मोक्ष है।

जगत को ऐसा मिथ्या विश्वास जम गया है कि आत्मा की इच्छानुसार शरीर में हलन-

चलनादि क्रिया होती है। परंतु भाई! शरीर के रजकणों की अवस्था शरीर के कारण होती है। श्वास चढ़ना, कफ निकलना, पसीना निकलना, आँख की पलकों का हिलना आदि क्रियाओं का कर्ता शरीर ही है। बाल, युवा और वृद्धपना आदि शरीर की ही अवस्थाएँ हैं। युवावस्था छोड़कर वृद्धावस्था कौन चाहता है? फिर भी इच्छा बिना वृद्धावस्था तो आती ही है। दाँतों का गिरना, आँखों से दिखाई न देना, कानों से सुनाई न देना आदि शारीरिक परिवर्तन आत्मा की इच्छा बिना शरीर की योग्यता से स्वयं ही होते हैं। यदि आत्मा की इच्छानुसार शरीर का परिणमन हो तो किसी की भी वृद्धावस्था नहीं आना चाहिए; परंतु वृद्धावस्था न चाहने पर भी आये बिना नहीं रहती। अरे! युवावस्था में सर्व अनुकूल संयोग होने पर भी आयु पूर्ण होने पर मरना पड़ता है। अपनी इच्छा से शरीर का कुछ भी परिणमन नहीं होता।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आत्मा शरीर का अधिष्ठाता किंचित् भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि शरीर के स्तवन से भगवान के आत्मा का किंचित भी स्तवन नहीं होता।

जो भगवान के आत्मा को जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है। ''जैसा भगवान का शांत, निर्विकारी और वीतरागी स्वरूप है वैसा ही मैं हूँ''; इसप्रकार निर्णयपूर्वक जो भगवान की प्रतिमा आदि के लक्ष से शुभभाव होते हैं, वह व्यवहार से भगवान की स्तुति है।

जिसप्रकार भगवान का आत्मा शुभाशुभ भावों से रहित है; उसीप्रकार मेरा आत्मा भी शुभाशुभ भाव रहित है—ऐसा निश्चय न करे और मात्र भगवान के शरीर के लक्ष्य से स्तुति करे तो वह व्यवहार से भी स्तुति नहीं है, मात्र शुभभाव है। जहाँ निश्चय होता है वहीं व्यवहार होता है और जहाँ निश्चयनहीं है, वहाँ व्यवहार भी नहीं होता।

कई लोग ऐसा मानते हैं कि भगवान हमें मुक्ति दे देंगे, परंतु यह कभी भी संभव नहीं है; क्योंकि भगवान का सत्त्व अलग है तथा हमारा सत्त्व अलग है। प्रत्येक पदार्थ का सत्त्व पृथक् ही है, उसमें कोई कुछ कर नहीं सकता। यदि कोई आत्मा दूसरे का कुछ कर सकता होवे तो एक आत्मा आकर मुक्ति देगा और दूसरा आत्मा आकर उसे नरक में ढकेल देगा। तब फिर प्रत्येक सत्त्व की स्वतंत्रता का विनाश होता है।

जगत में कोई किसी का उपकार नहीं करता है। जब यह आत्मा स्वयं अपने द्वारा देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप और अपने आत्मा का स्वरूप निश्चित करता है, तब उपचार से देव-शास्त्र-गुरु के द्वारा उपकार हुआ कहलाता है। यद्यपि यथार्थ समझ देव-शास्त्र-गुरु के निमित्त

बिना होती नहीं; तथापि देव-शास्त्र-गुरु से भी नहीं होती। कोई द्रव्य किसी द्रव्य के आधीन नहीं है।

जब आत्मा में ऐसी प्रतीति होती है कि ''मैं शांत हूँ, निर्मल हूँ, अविकारी हूँ, पुण्य-पाप आदि विकारी भावों से पृथक् हूँ''—तब व्यवहार से देव-शास्त्र-गुरु पर आरोप किया जाता है। तथा वही आत्मा अत्यंत विनम्र होकर कहता है कि ''हे प्रभो !आपने मुझ पर बहुत उपकार किया है, आपने मुझे तार दिया, निहाल कर दिया''—इसप्रकार शुभभाव होते हैं, वे व्यवहार से स्तुति नाम पाते हैं।

विकारी शुभभाव करते-करते अविकारी शुद्धभाव की प्राप्ति हो—ऐसा तीन लोक और तीन काल में कभी भी नहीं बन सकता।

ज्ञान में हमने कभी सत्य को स्वीकार ही नहीं किया है और सत्य को स्वीकार किये बिना मुक्ति भी कभी हो नहीं सकती।

आत्मा परपदार्थों का तो कुछ भला-बुरा कर नहीं सकता; परंतु 'मैं पर का भला कर दूँ, तथा 'मैं पर का बुरा कर दूँ'—इसप्रकार के शुभाशुभ भाव करता है कि जो वस्तुस्वरूप के विपरीत भाव होने से असत्य हैं। और इसप्रकार असत्य भावों का आश्रय करने से मुक्ति भी कभी हो नहीं सकती।

जगत के जीवों ने अनादिकाल से यह जान नहीं पाया कि सत्य क्या है, तत्त्व क्या है, वस्तु-स्वरूप क्या है, धर्म क्या है? और न ही कभी इन्हें जानने की जिज्ञासा ही की है। परपदार्थों में ही इसकी करने-करने की बुद्धि है और वैसी ही श्रद्धा है। यदि एक बार यथार्थ जानकारी होकर श्रद्धा, स्वभाव की ओर गुलाँट मारे तो अनादि विपरीतश्रद्धा का नाश होकर यथार्थ श्रद्धा प्रकट हो जाये और मुक्ति का मार्ग खुल जाये।

इसप्रकार आचार्यदेव ने शिष्य को दृष्टांत देकर समझाया है कि—जिसप्रकार नगर का वर्णन करने से उस नगर के राजा का वर्णन नहीं होता; उसीप्रकार शरीर की स्तुति से आत्मा की यथार्थ स्तुति नहीं होती।

भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव ने नगर का उदाहरण दिया। अतः आचार्य अमृतचंद्रदेव नगर का वर्णन करते हुए कलश करते हैं:—

प्राकारकवलितांबरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम्।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम्॥२५॥

यह नगर ऐसा है कि जिसने अपने कोट के द्वारा मानों आकाश को ग्रसित कर लिया है, बाग-बगीचों की पंक्तियों के द्वारा मानों भूमितल को निगल लिया है, तथा कोट के चारों तरफ की खाईयों के द्वारा मानों पाताल को पी लिया है।

आचार्यदेव नगर की महिमा गाते हुए कहते हैं कि इस नगर का कोट बहुत ऊँचा है—जिससे ऐसा लगता है कि मानों कोट ने सारा आकाश ग्रसित कर लिया है; राज्य के सारे क्षेत्र में बाग-बगीचों का ही साम्राज्य है—नगर का थोड़ा भाग भी बाग-बगीचों से रिक्त दिखाई नहीं देता; तथा नगर के चारों ओर की खाई अत्यंत गहरी है, उसकी गहराई का पार दिखाई नहीं पड़ता है—इसीलिए आचार्य उपमा देते हैं कि मानों उसकी गहराई पाताल तक पहुँच गई है। इसप्रकार उर्ध्व, मध्य और अधः तीनों ओर से नगर की उपमा दी है।

आचार्यदेव उक्त प्रकार नगर का वर्णन करने के पश्चात् कहते हैं कि इससे राजा का वर्णन नहीं हो सकता। यद्यपि नगर के संयोग से निमित्त से राजा उसका अधिष्ठाता व्यवहार से कहलाता है तथापि राजा को ऐसा अभिमान होता है कि मैं इस नगर का मालिक हूँ, स्वामी हूँ। आचार्यदेव तर्क प्रस्तुत करते हैं कि राजा व्यवहार से नगर का अधिष्ठाता होने पर भी, राजा में कोट-बाग-खाई आदि का अभाव होने से, नगर के वर्णन से राजा का वर्णन कदापि नहीं हो सकता है। यदि राजा कोट-बाग-खाई वाला स्वयं हो जावे तो कोट-बाग-खाई आदि के वर्णन से राजा का वर्णन अवश्य हो सकता है; परंतु राजा के शरीर में या उसके आत्मा में कोट-बाग-खाई आदि कुछ भी नहीं हैं, राजा और नगर भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। इससे सिद्ध हुआ कि नगर के वर्णन से राजा का वर्णन नहीं होता।

उक्त संपूर्ण उदाहरण से आचार्यदेव सिद्ध करते हैं कि शरीररूपी नगर के स्तवन से भी आत्मारूपी राजा का स्तवन नहीं होता। वही श्लोक द्वारा कहते हैं:—

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम्।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति॥२६॥

जिसके सर्व अंग सदा अविकार और सुस्थित हैं, जिसमें अपूर्व और स्वाभाविक लावण्य है, और जो समुद्र की भाँति क्षोभरहित है—ऐसा जिनेंद्र का परमरूप जयवंत हो।

उक्त श्लोक में जिनेंद्र भगवान के शरीर का स्तवन किया गया है। वह इसप्रकार है:—

जिनेंद्र भगवान का उत्कृष्टरूप सदा जयवंत हो। देवों और इंद्रों के शरीर से भी अधिक कांति और तेज तीर्थंकरदेव के शरीर में होता है, उनका रूप भी इंद्रों और देवों से अधिक उत्कृष्ट रहता है। जिनेन्द्र भगवान के शरीर को अविकार कहा गया है। वह इसलिए कहा गया है कि सामान्यजनों का रूप बदलता रहता है। युवावस्था में जो रूप होता है, वह वृद्धावस्था में नहीं रहता—बदल जाता है, किंतु जिनेंद्र भगवान का रूप तथा शरीर की सुंदरता अंत तक ज्यों की त्यों जयवंत रहती है। इसीलिए जिनेंद्र भगवान के सर्व अवयव अविकार रहते हैं—ऐसा कहा गया है।

भगवान के समस्त अंग सुस्थित होते हैं। उनके अंगों में कहीं भी कोई दूषण नहीं होता, और जिस स्थान पर जैसा जो सुंदर अवयव चाहिए सो वैसा ही होता है। भगवान के शरीर में जन्म से ही स्वाभाविक अपूर्व लावण्य होता है, जिसे देखकर इंद्र भी स्तम्भित रह जाता है तथा हजार-हजार नेत्र बनाकर भगवान के रूप का अवलोकन करता है।

जिनेंद्रदेव बाल्यावस्था से ही ऐसी मधुर वाणी बोलते हैं कि वह सबको अत्यंत प्रिय मालूम पड़ती है। भगवान का शरीर बिना आभूषणों के ही सुशोभित रहता है, शरीर की सुंदरता के लिए कोई कृत्रिम शृंगार नहीं बनाना पड़ता। उनका शरीर शुरु से ही समुद्र की भाँति अत्यंत गंभीर, क्षोभरहित होता है। बाहर की भौतिकता की चकाचौंध से उनका शरीर लेशमात्र भी विकृति को प्राप्त नहीं होता अर्थात् शरीर में कौतूहल, विस्मय और आश्चर्य के चिह्न दिखायी नहीं देते। ऐसा भासित होता है मानों वे जगत के संपूर्ण अनुभव प्राप्त करके कृतकृत्य हो गये हों।

उक्त प्रकार से शरीर का वर्णन करने पर भी आचार्यदेव फरमाते हैं कि इससे तीर्थंकर-केवलीपुरुष का स्तवन नहीं होता। यद्यपि व्यवहार से तीर्थंकर-केवलीपुरुष के शरीर का अधिष्ठात्रत्व है; तथापि सुस्थित, सर्वांगता, लावण्य आदि आत्मा के गुण नहीं हैं। अतः तीर्थंकर-केवलीपुरुष के उन गुणों का अभाव है।

यहाँ प्रश्न है कि यद्यपि तीर्थंकर-केवलीपुरुष का स्तवन, शरीर के स्तवन से नहीं होता; तथापि उनके बाह्य में ऐसे अविकार, सुस्थित, लावण्यमय शरीर क्यों होता है? सामान्यजन के ऐसे शरीरादि क्यों नहीं होते?

उसका उत्तर इसप्रकार है कि त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव पूर्वभव में जब पवित्रदशा में आगे बढ़ रहे हों, तब उस भूमिका में उनके शुभभाव भी उत्कृष्ट जाति के होते हैं, जिससे अलौकिक पुण्य का बंध तथा तीर्थंकर आदि पुण्य-प्रकृति का बंध होता है, जिससे वर्तमान में उनके ऐसे अपूर्व लावण्यादि विशेषताओं वाला शरीर होता है।

यहाँ पर जितनी भी प्रशंसा की गयी है, वह सब केवली भगवान के शरीर की प्रशंसा की गयी है, उसमें भगवान के आत्मा की कोई प्रशंसा नहीं आयी। शरीर और आत्मा बिल्कुल भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, इसीलिये दोनों के गुण भी बिल्कुल पृथक्-पृथक् ही होते हैं। एक के गुणों के स्तवन से दूसरे के गुणों का स्तवन नहीं होता। अतः यदि हम शरीर के गुणों के स्तवन में ही लग जावें तो उससे भगवान के आत्मा का स्तवन कदापि नहीं हो सकता।

अज्ञानी इसप्रकार वस्तु के वास्तविक स्वरूप को न समझकर ऐसा मानता है कि भगवान मुझे संसार-सागर से पार कर देंगे। अर्थात् वह अपने को बिल्कुल दीन-हीन मानता है। अपनी सामर्थ्य का उसे बिल्कुल पता नहीं है, जगत के प्रत्येक पदार्थ की अनंत स्वतंत्रता का उसे भान नहीं है। कविवर बनारसीदासजी ने कहा है:—

''दीन भयो प्रभुपद जपै मुक्ति कहाँ से होय।''

फिर भी यह अज्ञानी दीन-हीन होकर कहता है कि हे प्रभु! मुझे मुक्ति दीजिए। किंतु भगवान के पास तेरी मुक्ति कहाँ है? तेरी मुक्ति तो तुझमें ही है। भगवान कहते हैं कि ''प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, मैं भी स्वतंत्र हूँ, और तू भी स्वतंत्र है, तेरी मुक्ति तुझमें ही है।''

आत्मा अपने निर्मल, ज्ञानानंदस्वभावी आत्मतत्त्व की ओर उन्मुख न होकर मात्र पर-प्रभु को भजता रहेगा तो उसे कभी भी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकेगी। जब राग-द्वेष से विमुक्त अपने स्वभाव का निर्णयपूर्वक अनुभव कर लिया जाता है, तब भगवान पर आरोपित करके विनयपूर्वक यह कहा जाता है कि भगवान ने मुझे मुक्ति का मार्ग बताया; यह शुभभाव होने से व्यवहार-स्तुति है।

व्यवहार-स्तुति भी शुभभावरूप विकारी परिणाम होने से जब उसका भी परित्याग करके आत्मा स्वरूप में स्थिर होता है, तब परमार्थ-स्तुति होती है। उस परमर्थ-स्तुति का स्वरूप आगे की गाथाओं में आचार्यदेव स्पष्ट करेंगे। ✻

कैसा है यह आत्मा?

परमपूज्य दिगंबर आचार्य कुंदकुंद के प्रसिद्ध परमागम 'नियमसार' की ४३वीं गाथा में समागत अमृताशीती (श्री योगीन्दुदेवकृत) ग्रंथ के ५७वें श्लोक व आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा विरचित कलश (श्लोक) नं० ६२ से ६८ पर हुये पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचनों का संक्षिप्त सार यहाँ दिया जा रहा है।

अब श्री योगीन्द्रदेवकृत अमृताशीति नामक ग्रंथ के श्लोक ५७ को कहते हैं:—

स्वरनिकरविसर्गव्यंजनाद्यक्षरैर्यद् रहितमहितहीनं शाश्वतं मुक्तसंख्यम्।
अरसतिमिररूपस्पर्शगंधाम्बुवायुक्षितिपवनसखाणुस्थूल दिक्चक्रवालम्॥५७॥

आत्मतत्त्व स्वरसमूह, विसर्ग और व्यंजनादि अक्षरों रहित एवं संख्या रहित है (अर्थात् अक्षर और अंकों का आत्मतत्त्व में प्रवेश नहीं है), अहित रहित है, शाश्वत है, अंधकार तथा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से भी रहित है। पृथ्वी, जल, वायु आदि के अणुओं से रहित तथा स्थूल दिक्चक्र (दिशासमूह) से रहित है।

अक्षर और अंक पुद्गल की पर्याय है; आत्मा उनका कर्ता नहीं है।

कैसा है आत्मतत्त्व? त्रिकाली शुद्धस्वभावरूप जिसमें से अनंत निर्मल पर्यायें प्रकट होती हैं—वही कहते हैं? अ, आ आदि स्वर, विसर्ग और क, ख आदि व्यंजन आत्मा में नहीं हैं, वह सब भाषा की अवस्था है, आत्मा बोल सकता नहीं। 'आत्मा' शब्द बोला गया, उसमें 'आ' अनंत पुद्गलपरमाणु (भाषा) के स्कंधरूप अवस्था है। आत्मा में ज्ञान भरा हुआ है, वह पुद्गल नहीं—जो बोल सके। ज्ञान और भाषा में तो अत्यंत अभाव है। फिर एक, दो, तीन, हजार, लाख आदि जो संख्या बोली जाती है, वह भी भाषा का ही परिणमन है—आत्मा तो संख्या रहित है। स्वरसमूह और व्यंजन को अक्षर कहा तथा संख्या को अंक कहा है, इन सबका आत्मा में प्रवेश नहीं है।

प्रश्न - आत्मा होता है, तभी तो बोलता है न?

उत्तर - भाई! शब्द तो भाषा की पर्याय है, वह स्वतंत्र है, उसमें आत्मा का भाव निमित्त है-उसका ज्ञान कराते हैं। यदि आत्मा बोलता हो तो जब-जब इच्छा हो तब-तब बोलना

चाहिये, किंतु ऐसा बनता नहीं। भाषा का परिणमन हो तब आत्मा का जो भाव है, उसका निमित्त-नैमित्तिक संबंध बताया है। पुद्गलपरमाणु द्रव्य अपेक्षा से समान हैं; परंतु भाषा की पर्यायें भिन्न-भिन्न अपनी वर्तमान योग्यता के कारण होती हैं।

जो जीव द्रव्य को सर्वथा विषम ही माने वह द्रव्य को समझता नहीं।

जो जीव पर्याय को एक समान ही माने वह पर्याय को समझता नहीं।

पुद्गलपरमाणु द्रव्य अपेक्षा से समान हैं और भाषारूप पर्याय में भिन्न-भिन्न परिणमन होता है, आत्मा उसका कर्ता-हर्ता नहीं; अतः आत्मा अक्षर और अंक से रहित है।

आत्मा अहितरहित शाश्वत प्रकाशमान पदार्थ है; वह पुद्गलपरमाणु तथा उसके गुणों से रहित है।

आत्मा त्रिकाल शाश्वत पदार्थ है, उसमें त्रिकाल हितपना है। हित-अहितपना के भेद तो पर्याय में पड़ते हैं, शुद्ध स्वभाव में ऐसे भेद नहीं है। जिसमें अहित नहीं, ऐसे स्वभाव के आश्रय से हित होता है और अहित सर्वथा टल जाता है। आत्मा अंधकार रहित है, प्रकाश का पिंड है। आत्मा स्पर्श, रस, गंध, रूप रहित है। आत्मा पृथ्वी नहीं, पानी के परमाणु नहीं, तथा अग्नि और वायु के अणुओं से रहित है, वायु श्वासादि आत्मा में नहीं हैं। पंचमहाभूत में से भी आत्मा नहीं बना। वह पूर्व, पश्चिम आदि दिशासमूह से रहित हैं। ऐसे आत्मा की श्रद्धा करना वह सम्यग्दर्शन है।

अब ४३वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज सात श्लोक कहते हैं:—

दुरघवनकुठारः प्राप्त दुःकर्मपारः परपरिणतिदूरः प्रास्तरागाब्धिपूरः।
हतविविधविकारः सत्यशर्माब्धिनीरः सपदि समयसारः पातु मामस्तमारः ॥६२॥

जो (समयसार) दुष्ट पापों के वन को छेदने का कुठार है, जो दुष्ट कर्मों के पार को प्राप्त हुआ है (अर्थात् जिसने कर्मों का अंत किया है), जो पर-परिणति से दूर है, जिसने रागरूपी समुद्र के पूर को नष्ट किया है, जिसने विविध विकारों का हनन कर दिया है, जो सच्चे सुख-सागर का नीर है और जिसने काम को अस्त किया है, वह समयसार मेरी शीघ्र रक्षा करो।

मुनिराज कहते हैं कि शुद्ध आत्मा मेरी रक्षा करे। कैसा है शुद्ध आत्मा?

त्रिकाली स्वभाव की बात करते हैं। निमित्तादि परपदार्थ तथा पुण्य-पाप त्रिकालस्वभाव में नहीं हैं। उनकी बुद्धि छुड़ाने के लिये कहते हैं—कैसा है शुद्ध आत्मा?

(१) यहाँ पाप का अर्थ विकार समझना। शुभ-अशुभ दोनों विकार—पाप हैं, शुद्ध आत्मा उनको छेदने का कुल्हाड़ा है।

(२) शुद्ध आत्मा में कर्म नहीं हैं। द्रव्यकर्म और विकार की पर्याय के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, वह ज्ञान करने के लिये है, किंतु आदरणीय नहीं है, शुद्धभाव ही आदरणीय है। विकार पर्याय में है किंतु त्रिकालस्वभाव में नहीं है—ऐसी अनेकांत दृष्टि करे वह सम्यग्ज्ञानी है। विकार की रुचि करने पर त्रिकाली शुद्धभाव का अनादर हो जाता है, तथा त्रिकाली शुद्धभाव का आदर करने पर विकार का नाश हो जाता है।

(३) शुद्ध आत्मा पर-परिणति से दूर है। परलक्ष से होनेवाली सभी परिणतियाँ पर-परिणतियाँ हैं, शुद्ध आत्मा में उन सभी का अभाव है।

(४) समुद्र में जल का तूफान उछलता है; उसीप्रकार पर्यायबुद्धि में रागरूपी समुद्र का पूर उछलता है; परंतु शुद्धस्वभाव में विकार नहीं है—ऐसा भान होने पर रागरूपी समुद्र का नाश होता है।

(५) सामान्य विकार की बात करके अब अनेक प्रकार बतलाते हैं। असंख्य शुभ और अशुभ विकार के प्रकार शुद्धात्मा में नहीं हैं—ऐसा भान होने पर दृष्टि से विकार हट गया और संपूर्ण स्थिरता होने पर सर्व प्रकार से विकार का नाश हो जाता है।

(६) पुनः कैसा है समयसार (शुद्ध आत्मा)? जैसे समुद्र जल से भरा हुआ है वैसे ही शुद्ध आत्मा ज्ञान और आनंद से भरपूर है। देखो! यहाँ सच्चा सुख बतलाते हैं। विवाह के समय महिलायें गाना गाती हैं और कहती हैं कि हमारे घर हाथी झूलते हैं, मोती के थाल भरायें, ऐसा कहकर आनंद मनाती हैं। घर में दमड़ी का भी ठिकाना न हो, तो भी इस प्रकार का उत्साह व्यक्त करती हैं, किंतु वह उत्साह खोटा है।

दीपावली के दिन मिट्टी के दीपक जलाना तो जड़ की क्रिया है। अरे! अपने चैतन्य आत्मा के दरवाजे पर केवलज्ञानरूपी सूर्य प्रकट हो—ऐसा तू है, उसे देख! आत्मा सुख-सागर का नीर है, उस पानी को निकालकर विकार के ऊपर छिड़क दे तो विकार नष्ट हो जाये।

(७) आत्मा के शुद्ध स्वभाव में विषय-वासना नहीं है। ऐसे शुद्ध आत्मा की श्रद्धाज्ञान और एकाग्रता करने पर पर्याय में रहनेवाली विषय-वासना मिट जाती है।

अब टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि ऐसा शुद्धात्मा शीघ्र मेरा रक्षण करे, अर्थात् मैं

एकदम परिपूर्ण परमात्मदशा को प्राप्त हो जाऊँ—ऐसी भावना भाते हैं।

टीकाकार मुनिराज शुद्धात्मा के गीत अति उत्साह से, लौकिक लाज बिना, गा रहे हैं। त्रिकाल समयसार अथवा कारणपरमात्मा, यही रक्षण का कारण है। राज्य, पैसा, कुटुंब, दवा इत्यादि रक्षण करे—ऐसा नहीं है, त्रिकाल ज्ञायकभाव ही रक्षक है; इसप्रकार शुद्धात्मा की श्रद्धा-ज्ञान करना ही धर्म है।

जयति परमतत्त्वं तत्त्वनिष्णातपद्मप्रभमुनिहृदयाब्जे संस्थितं निर्विकारम्।
हतविविधविकल्पं कल्पनामात्ररम्याद् भवभव सुखदुःखान्मुक्तमुक्तं बुधैर्यत्॥६३॥

जो तत्त्वनिष्णात (वस्तुस्वरूप में निपुण) पद्मप्रभमुनि के हृदय-कमल में स्थित है, जो निर्विकार है, जिसने विविध विकल्पों का हनन कर दिया है, और जिसे बुध पुरुषों ने कल्पनामात्र -रम्य ऐसे भव-भव के सुखों से तथा दुःखों से मुक्त कहा है; वह परमतत्त्व जयवंत है।

यह टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभ नाम से विख्यात हैं। वे तत्त्व में निष्णात हैं, वस्तुस्वरूप में निपुण हैं, परमतत्त्व मुनिजी के हृदयकमल में स्थित है। कैसा है परमतत्त्व ? परमतत्त्व में विकार नहीं है, अनेक प्रकार के विकल्प नहीं हैं—ऐसे तत्त्व के आश्रय से पर्याय में होनेवाले विकार का अभाव हो जाता है। जैसे राजा के मर जाने पर उसकी सेना भी पलायमान हो जाती है—मर जाती है; वैसे ही मैं ज्ञानस्वभावी चैतन्य राजा हूँ—ऐसी दृष्टि होने पर विकार की सेना मृततुल्य हो जाती है। यह परमतत्त्व कल्पनामात्र-रम्य है और लौकिक सुख-दुःख से रहित है। लौकिकजन तो रुपया, पैसा आदि में सुख मानते हैं किंतु वह तो कल्पनामात्र है। चक्रवर्ती और देवों का सुख भी कल्पनामात्र-रम्य है, अज्ञानी जीव ही उसमें सुख मानते हैं। जड़ का स्वामी जड़ ही होता है—आत्मा नहीं; आत्मा ने मकान, वैभवादि एकत्र किया नहीं, परवस्तु आत्मा में एकसमय मात्र भी नहीं। स्वादिष्ट भोजन, सुंदर वस्त्र मिलने पर अपने को सुखी मानता है, परंतु यह सब मात्र काल्पनिक है—वास्तविक सुख इसमें नहीं। सातवें नरक में असह्य वेदना हो किंतु वह भी कल्पनामात्र दुःख है। सुख-दुःख संयोगों में नहीं है, किंतु जीव सुख-दुःख की कल्पना कर लेता है। ऐसी कल्पना रहित त्रिकाली रत्न जैसे का तैसा पड़ा हुआ है, वह कहीं घट-बढ़ नहीं गया है। चाहे जितना पुण्य-पाप किया हो तथापि वह तो ज्यों का त्यों है; अतः उसकी प्रतीति कर।

आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा को हीन मानने की कल्पना मत करो, उसे पुण्य-पाप

वाला अथवा निमित्तवाला मत मानो। सादि अनंत काल तक स्थिर होने का अवसर आया है, उसके प्रकट होने पर संसार-क्लेश पुनः उत्पन्न नहीं होगा—ऐसा परमतत्त्व जयवंत वर्तता है।

अनिशमतुलबोधाधीनमात्मानमात्मा सहजगुणमणीनामाकरं तत्त्वसारम्।
निजपरिणतिशर्म्माम्भोधिमज्जन्तमेनं भजतु भवविमुक्त्यै भव्यताप्रेरितो यः॥६४॥

जो आत्मा भव्यता द्वारा प्रेरित हो, यह आत्मा भव से विमुक्त होने के हेतु निरंतर इस आत्मा को भजो—कि जो (आत्मा) अनुपम ज्ञान के आधीन है, जो सहज गुणमणि की खान है, जो (सर्व) तत्त्वों में सार है और जो निजपरिणति के सुखसागर में मग्न होता है।

योग्य जीव संसार से पार होने के लिये निरंतर शुद्ध आत्मा को भजो।

जो जीव मोक्ष के योग्य हैं तथा अपनी योग्यता से जिनको प्रेरणा हुई है, वे जीव भव से छूटने के लिये इस आत्मा को भजो। मेरा मोक्ष होगा या नहीं—ऐसा पूछने के लिये भगवान के पास जाना नहीं पड़ता। अहो! मेरा चैतन्य आत्मा अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करेगा। बोधिबीज कहो या सम्यग्ज्ञान कहो—वह चैतन्य में से आता है। उस बोधिबीज में से केवलज्ञान प्रकट होगा—ऐसी प्रकरणा योग्य जीव को अपने अंतर में से मिली है, किसी अन्य से नहीं। जिन्हें मुक्ति की तीव्र अभिलाषा हो, वे जीव संसार से पार होने के लिए शुद्धात्मा को निरंतर भजो। धर्मी को निर्विकल्प दशा के समय अपने आत्म-भगवान में स्थिरता होती है और राग होने पर भगवान के ऊपर लक्ष जाता है, परंतु भगवान से कल्याण होगा—ऐसी दृष्टि एकसमय भी होती नहीं। पुण्य-पाप और निमित्त की मुख्यता कभी मत करो, किंतु शुद्धस्वभाव की मुख्यता करो। खाते, पीते, सोते, जागते हर दशा में और हर क्षेत्र में अपने शुद्धस्वभाव की रुचि और मुख्यता करो—मुख्यता का अभाव मत होने दो।

प्रश्न - तो फिर हम व्रत, तप, उपवास आदि कब करें?

समाधान - यह सभी इसमें गर्भित हो जाते हैं। शुद्धस्वभाव की एकाग्रता करने पर राग का अभाव हो जाता है। उसमें किस-किस प्रकार के शुभराग का अभाव करके शुद्धता प्रकट हुई उसके भेद बतलाते हैं। व्रत, तप, उपवास, बारह भावना, बाईस परीषह, निर्दोष आहार का विकल्प, यात्रा, विनय, पंच समिति आदि शुभराग अनेक प्रकार के आते हैं, वे जानने के लिये हैं। शुद्धस्वभाव में लीनता होने पर इन भेदों का अभाव हो जाता है—अतः एकाग्रता वही धर्म है।

शुद्ध आत्मा ज्ञान-दर्शनादि सहज गुणमणि की खान है, उसमें रत्नत्रय पकता है।

कैसा है शुद्ध आत्मा ? जिसे उपमा नहीं दी जा सकती, ऐसे त्रिकाली ज्ञान के आधीन है। किसी देव-शास्त्र-गुरु के आधीन नहीं, पुण्य-पाप के आधीन नहीं, वह सहज अनंत गुणों की खान है। कोयला परिवर्तित होकर हीरा बनता है, उसीप्रकार मणि आदि नवनिर्मित अवस्था है; जबकि आत्मा के गुणों की खान नई नहीं है, वह तो स्वाभाविक ज्ञान-दर्शनरूप गुणमणि की खान है। उसका भान करे तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के तीनों रत्न प्रकट हों। वे कहाँ से उत्पन्न होते हैं ? सहज गुणमणि की खान में से उत्पन्न होते हैं।

शुद्ध आत्मा सब तत्त्वों में सार है और वह निजपरिणति के सुख-सागर में लीन होता है।

पुनः कैसा है शुद्ध आत्मा ? जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन नव तत्त्वों में शुद्धजीव तत्त्व साररूप है। संवर-निर्जरा अधूरी पर्याय है और मोक्ष पूर्ण प्रकट पर्याय है, किंतु उन सर्व पर्यायों के प्रकट होने का आधार एक कारणपरमात्मा है—उसमें से यह पर्यायें प्रकट होती हैं। पुनः त्रिकाली भगवान आत्मा अपनी परिणति के सुख-सागर में मग्न होता है। क्षीरसागर है, उसका पानी दूध के रंग जैसा है और उसी रूप में दिखाई पड़ता है; उसी तरह आत्म-सागर अपने सुख-आनंद में लीन है। ऐसे आत्मा को भजने के लिए कहा; त्रिकाली आत्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रकट होता है—यही आत्मा का भजन है।

भवभोगपराङ्मुख हे यते पदमिदं भवहेतुविनाशनम्।
भज निजात्मनिमग्नमते पुनस्तव किमध्रुववस्तुनि चिन्तया॥६५॥

निज आत्मा में लीनबुद्धिवाले तथा भव से और भोग से पराङ्मुख हुये हे यति! तू भवहेतु का विनाश करनेवाले ऐसे इस (ध्रुव) पद को भज; अध्रुव वस्तु की चिंता से तुझे क्या प्रयोजन है ?

यहाँ मुनि को संकेत करके बात करते हैं। कैसे हैं वे साधु ? अपने शुद्ध आत्मा में स्थिर रहने की इच्छावाले हैं, चतुर्गति के भव मेरे में हैं ही नहीं—ऐसी श्रद्धापूर्वक स्वभाव-सन्मुख हुए हैं। ऐसे मुनि से कहते हैं कि हे मुनि! मिथ्यात्व-राग-द्वेष भव के हेतु हैं। आनंदकंद शुद्ध आत्मपद की सेवा से मिथ्यात्व और राग-द्वेष का विनाश होता है। अतः उसी की उपासना-सेवा कर, उससे भव का नाश होगा। देव-शास्त्र-गुरु का, राग-पर्याय का, अपूर्ण निर्मल-पर्याय का

सेवन नहीं; अरे! सेवन तो अपने स्वभाव का कर; क्योंकि तेरे स्वभाव से बाहर जितनी भी वस्तुयें हैं वे सब अध्रुव हैं। पुण्य, व्यवहार, विकल्प अनित्य हैं - अध्रुव हैं, अतः उनसे क्या प्रयोजन? तेरे आत्मा को उनका प्रयोजन नहीं है। अतः ध्रुव शुद्ध आत्मा को ही तू भज।

समयसारमनाकुलमच्युतं जननमृत्युरुजादिविवर्जितम्।
सहजनिर्मलशर्म्मसुधामयं समरसेन सदा परिपूजये॥६६॥

जो अनाकुल है, अच्युत है, जनम-मृत्यु-रोगादि रहित है, सहज निर्मल सुखामृतमय है, उस समयसार को मैं समताभाव द्वारा सदा पूजता हूँ।

जैसे लौकिक में कहा जाता है कि ध्रुवतारा अपना स्थान छोड़ता नहीं, वैसे ही वह ध्रुवस्वभाव भी अपना शुद्धस्वभाव कभी छोड़ता नहीं।

कैसा है तत्त्व? एकसमय की पर्याय के रागरहित आनंदमय है—अनाकुल है। वर्तमान पर्याय में राग-द्वेष है, वह क्षमा की विकृति का सूचक है। विकृति के पीछे क्षमासागर स्थायी अनाकुल शांतस्वरूप रह रहा है। आकुलता स्थायी स्वभाव नहीं हो सकती। आत्मा का स्थायी स्वभाव शांत और अनाकुल है।

पुनश्च, वह शुद्धतत्त्व अच्युत है। विकार निकल जाता है, परंतु शुद्धस्वभाव कभी छूटता नहीं। वह शुद्धस्वभाव कभी जन्मता नहीं, मरता नहीं और उसमें रागादि होते नहीं, रोग-शोक-उपाधि आदि आत्मा के मल स्वभाव में हैं ही नहीं।

संसार के लोलुपी जीव कहते हैं कि "काम-काज के आगे हमें मरने की भी फुरसत नहीं"—ऐसे जीवों को तीव्रकषाय के भाव वर्तते हैं। ऐसे जीव को धंधा व्यापार अच्छा चलता दिखाई पड़ता हो तो भी वह जीव कषाय की धधकती दुकान अंदर में चला रहा है। क्रोध, मान, माया, लोभ के परिणाम करके भव-भ्रमण का लाभ प्राप्त होता है। पर्यायबुद्धि में जो जीव रुका है उसके ध्रुवबुद्धि नहीं होती। जीव के शुद्धस्वभाव में हर्ष, शोक की उपाधि नहीं है। लौकिक में जो कहावत है कि—ध्रुवतारा अपना निश्चित स्थान छोड़ता नहीं, वैसे ही आत्मा का ध्रुवस्वभाव अपनी शुद्धता का स्थान कभी छोड़ता नहीं। राग-द्वेष ऐसा होगा अथवा राग कैसा करना—इससे तुझे क्या प्रयोजन है?—कुछ भी नहीं। इसलिये आत्मा अनाकुल है, रोगादि से रहित है—उसकी दृष्टि कर।

पुनश्च, आत्मा स्वाभाविक निर्मलसुख अमृतमय है, उसमें किंचित् भी दुःख

नहीं—ऐसा सुख से परिपूर्ण आत्मा है। वर्तमान पर्याय को गौण करके त्रिकाल स्वभाव की दृष्टि कर।

जो जीव शुद्ध आत्मारूपी लक्ष्मी को उपशम रस से भजता है, वही वास्तविक धनतेरस प्राप्त करता है।

यह प्रवचन धनतेरस के दिन हो रहा है। मुनिराज कहते हैं कि ऐसे शुद्धात्मा को मैं समरसभाव से पूजता हूँ। समयसार शास्त्र की बात नहीं; किंतु समयसार अर्थात् शुद्धात्मा को पूजता हूँ। देव-गुरु को नहीं, पुण्य को नहीं, एकसमय की पर्याय को भी नहीं, किंतु अकेले शुद्धात्मा को पूजता हूँ। धनतेरस में अज्ञानी जीव धन की पूजा करते हैं और दूध, दही आदि पदार्थ खाते हैं परंतु उसमें कुछ माल नहीं है, वह तो सब आकुलता है। आत्मा त्रिकाल शुद्ध है, उसे पुण्य-पापरहित उपशमरस से पूजता हूँ, आत्मा की तरफ झुकता हूँ। जैसे भगवान के ऊपर अभिषेक करते हैं, वैसे ही त्रिकालस्वभाव भगवान के ऊपर उपशमरस से अभिषेक कर, वही भगवान की वास्तविक पूजा है। यह स्वरूपलक्ष्मीरूपी धन की पूजा है—उसे धनतेरस की पूजा करते हैं।

इत्थंनिज ज्ञेन निजात्मतत्त्वमुक्तं पुरा सूत्रकृता विशुद्धम्।
बुद्धवा च यन्मुक्तिमुपैति भव्यस्तद्भावयाम्युत्तमशर्मणेऽहम्॥६७॥

इसप्रकार पहले निजज्ञ सूत्रकार ने (आत्मज्ञानी सूत्रकर्ता भगवत्कुंदकुंदाचार्यदेव ने) जिस निजात्मतत्त्व का वर्णन किया और जिसे जानकर भव्य जीव मुक्ति को प्राप्त करते हैं, उस निजात्मतत्त्व को उत्तम सुख की प्राप्ति के हेतु मैं भाता हूँ।

टीकाकार मुनिराज सिद्धपद की प्राप्ति के लिये शुद्ध आत्मतत्त्व को भाते हैं।

इसप्रकार आत्मज्ञानी सूत्रकर्ता ने विशुद्ध निजात्मतत्त्व का वर्णन किया, उसे जानकर पात्र जीव मुक्तदशा को पाते हैं। देव-शास्त्र-गुरु अथवा परपदार्थ को जानकर मुक्ति पाते हैं—ऐसा नहीं कहा; किंतु अपने को जानकर मुक्ति पाते हैं—ऐसी बात की है। पर से जानने में न आवे किंतु स्व से जानने में आवे, ऐसा जो शुद्ध आत्मा उसको मैं उत्तम सुख की प्राप्ति के लिए भाता हूँ।

सिद्ध के परम सुख की बात करते हैं। लोक में सुख नहीं है। मुनिराज कहते हैं कि मुझे अन्य कोई काम नहीं है, अंतर-एकाग्रता करके सिद्धपद पाऊँ ऐसी भावना है। भविष्य में

भगवान मिलें ऐसी अथवा शुभभाव करूँ ऐसी भावना मुनि करते नहीं हैं। भक्ति में कथन आता है कि ''हे प्रभो! भव-भव तुम्हारे चरणकमल की सेवा करूँ''—ऐसा कथन निमित्त से है। वहाँ भी शुद्धस्वभाव की एकाग्रता की माँग है, परंतु राग है इसलिये प्रभु के ऊपर आरोप करते हैं।

यहाँ टीकाकार मुनिराज सिद्धपद की प्राप्ति के लिये शुद्धात्मा की भावना भाते हैं।

आद्यन्तमुक्तमनघं परमात्मतत्त्वं निर्द्वन्द्वमक्षयविशालवरप्रबोधम्।
तद्भावनापरिणतो भुवि भव्यलोकः सिद्धिं प्रयाति भवसंभवदुःखदूराम्॥६८॥

परमात्मतत्त्व आदि-अंत रहित है, दोषरहित है, निर्द्वन्द्व है, और अक्षय विशाल उत्तम ज्ञानस्वरूप है। जगत में जो भव्यजन उसकी भावनारूप परिणमित होते हैं; वे भवजनित दुःखों से दूर ऐसी सिद्धि को प्राप्त करते हैं।

परम आत्मतत्त्व अनादि अनंत है, निर्दोष है, और उत्तम ज्ञानस्वरूप है।

पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा आदि तत्त्वों से रहित परमात्मतत्त्व है। इन तत्त्वों का तो अंत आ जाता है किंतु मोक्षतत्त्व का अंत नहीं आता—फिर भी उसकी आदि तो है। देखो! शुद्ध स्वाभाविकतत्त्व आदि और अंत दोनों से रहित है, उस परम आत्मतत्त्व में दोष नहीं है। विकार और दोष एकसमय की पर्याय में होता है—त्रिकालतत्त्व में दोष नहीं है। पुनश्च, निर्द्वन्द्व है। आत्मा द्रव्य से शुद्ध है, पर्याय से अशुद्ध है—ऐसे दो भेद अर्थात् द्वैत्व परमात्मतत्त्व में नहीं है। फिर वह कभी नाश नहीं होता—ऐसा अक्षय, विशाल, उत्तम ज्ञानस्वरूप है। उसका अवलंबन लेना वही साररूप है।

भव्यजीव शुद्ध परमात्मतत्त्व की भावना भाकर मोक्षदशा को पाते हैं।

निमित्त अथवा पर्यायों को पलटने की बुद्धि—ऐसा राग करूँ, ऐसा निमित्त मिलाऊँ, यह सब पर्यायबुद्धि है और संसार का कारण है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, किसी का परिवर्तन-कर्ता नहीं—ऐसी स्वभावबुद्धि होना वह धर्म का कारण है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कहो अथवा स्वभावबुद्धि कहो—एक ही बात है। जो पात्र जीव अपनी शुद्ध आत्मा में एकाग्रता को प्राप्त होते हैं, वे भवजनित दुःख से दूर ऐसी सिद्धदशा को पाते हैं। देव, सेठ, राजा आदि जन्म-मरण से दुःखी हैं, सर्वार्थसिद्धि के देव का भव मिलना भी दुःख है; कारण कि उतना राग विद्यमान है और उस राग के फल में भव मिलेगा ही। इसलिए जो पात्र जीव आत्मा को भजते हैं, वे दुःखों से दूर ऐसी मुक्ति को पाते हैं। ❋

द्रव्यसंग्रह प्रवचन

वृहद्द्रव्यसंग्रह पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन सन् १९५२ में हुए थे। जिज्ञासु पाठकों के लाभार्थ उन्हें यहाँ क्रमशः दिया जा रहा है।

[गतांक से आगे]

[गतांक से आगे]

भगवान ने छह द्रव्य बताये हैं। किसी द्रव्य की सत्ता किसी अन्य द्रव्य के कारण नहीं है। यदि एक द्रव्य अन्य द्रव्य के कारण होता हो तब छह द्रव्य का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता।

द्रव्य जाति की अपेक्षा छह हैं। उनमें आत्मा अनंत, पुद्गल अनंतानंत, धर्म-अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक, तथा कालाणु लोकप्रमाण असंख्यात हैं। ऐसे अनंत द्रव्य हैं, सभी स्वतंत्र हैं। स्वतंत्र कहने का तात्पर्य द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों की स्वतंत्रता से है। द्रव्य, गुण तो स्वतंत्र हैं ही; किंतु उनकी पर्यायें अर्थात् जीव की विकारी-अविकारी पर्यायें भी स्वयं के कारण से हैं; पर के कारण नहीं। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ आधार-आधेय संबंध नहीं।

पुद्गल स्कंधरूप स्वतंत्रपने परिणमता है। पैसा आता है; पर वह आत्मा के कारण नहीं आता है। तथा पैसा आत्मा को ममता भी नहीं कराता है।

प्रश्न - तब फिर पैसा अमुक स्थान में क्यों रहता है ?

समाधान - अनंत द्रव्य लोक में रह रहे हैं। यदि वे लोक को छोड़कर अलोक में जायें तो ऐसा प्रश्न हो सकता है, परंतु लोक के द्रव्य लोक को छोड़कर कहीं पर जाते ही नहीं हैं।

जीव अभिमान करता है कि पैसा मेरी जेब में रहता है, परंतु जेब पुद्गल है, जीव नहीं। लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति के पास पैसा है, लेकिन वह जीव लोक में है, लोक के बाहर नहीं है। पैसा पुद्गल है, जीव नहीं है। जीव जो ममता करता है, वह ममता जीव की है, उसको जीव कम कर सकता है। स्वभाव के आश्रय से ममता का अभाव प्रत्येक जीव कर सकता है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से मिलता है—ऐसा मानने पर छह द्रव्य नहीं रहते हैं। वास्तव में तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के लिये बेकार है, किसी काम का नहीं।

प्रत्येक आत्मा और पुद्गल द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं, वे स्वयं ही स्वयं में कार्य करते हैं। यदि

एक द्रव्य के कारण अन्य द्रव्य का कार्य माना जाये तो द्रव्य अनंत नहीं रहते हैं, तब लोक भी नहीं रहेगा तथा ममता की पर्याय अन्य के कारण मानने में आये अथवा ममता पर्याय में नहीं ऐसा मानने में आये—तब जीवद्रव्य नहीं रहेगा। पुण्य-पाप की अशुद्ध पर्यायें या अविकारी शुद्ध पर्यायें जीवद्रव्य में हैं। एक पर्याय को निकाल दो तो अखंड जीव का नाश होता है।

प्रश्न - जीव की एक पर्याय को मानने पर अखंड जीव का नाश कैसे होता है ?

समाधान - सौ वर्ष की आयु में से एक समय निकाल दो तो सौ वर्ष की आयु नहीं रहती है। जिसप्रकार चादर में से एक तार (सूत) निकाल दो तो चादर अखंड नहीं रहेगी; उसीप्रकार चारित्रगुण की विकारी पर्याय को अन्य के कारण कहोगे तो एक पर्याय के निकल जाने पर चारित्रगुण अखंड नहीं रह सकेगा। द्रव्य तो जैसा है वैसा ही है, लेकिन उसकी श्रद्धा में अखंड द्रव्य नहीं आयेगा अर्थात् उसके मिथ्या श्रद्धान होगा।

सर्वत्र भगवान की वाणी में जाति अपेक्षा छह और संख्या अपेक्षा अनंत द्रव्य कहे गये हैं। उनके द्रव्य, गुण, पर्याय स्वतंत्र हैं। पर्याय विकारी हो या अविकारी, वह पर के कारण से मानने में आये तो लोकालोक का नाश हो जाये। पाँच सौ कड़ियों की सांकल में से एक कड़ी के निकाल देने पर बड़ी सांकल नहीं रहती, टूट जाती है। प्रत्येक द्रव्य के अनादि-अनंतकाल में भूत-भविष्य और वर्तमान काल की पर्यायें हैं। इसप्रकार तीन काल की पर्यायों का पिण्ड द्रव्य है।

(१) जिस द्रव्य की भूतकाल की पर्यायें हो गईं वे तो कम नहीं की जा सकती हैं।

(२) द्रव्य की भविष्य की पर्यायें होती हैं, वे भी कम नहीं की जा सकती हैं।

(३) अब वर्तमान में एकसमय की पर्याय में अज्ञानी जीव गड़बड़ घोटाला करता है। 'यह राग पर के कारण हुआ है' और 'शब्द के कारण ज्ञानपर्याय हुई है'—इसप्रकार एकसमय की पर्याय को पराधीन मानता है, अपने कारण से नहीं मानता, इससे द्रव्य खंड-खंड हो जाता है। एकसमय में तेरा परिणाम तेरे से नहीं है - ऐसा मानने में आवे तो वर्तमान रूप में ऐसा प्रकट (सिद्ध) नहीं होता। तू त्रिकाली तो रहता नहीं है। राग होता है तो तेरे से, द्वेष होता है तो तेरे से, सम्यग्दर्शन होता है तो तेरे से, और वीतरागता होती है तो तेरे से ही होती है। अहो वीतराग के वचन! एक-एक शब्द में अनंत (अगाध) आगम भरा हुआ है—ऐसी कोई रचना है।

एकसमय की पर्याय पर के कारण माने तो द्रव्य सिद्ध (साबित) नहीं होता और केवलज्ञान भी सिद्ध नहीं होगा। छह द्रव्यों में से एक द्रव्य कम करने पर, एक गुण कम करने पर,

एक पर्याय अन्य के कारण मानने पर अथवा कालद्रव्य को एक न मानने पर ज्ञान और श्रद्धा खंड-खंड हो जाती है। वस्तुओं का खंड और ज्ञेयों का खंड हो जाता है। एक भी बात रहती नहीं है।

एकसमय की पर्याय स्वतंत्र है—ऐसा निर्णय करने पर जीवद्रव्य का निर्णय होता है और केवलज्ञान का भी निर्णय होता है।

पुद्गल की पर्यायें छाया, तम वगैरह यदि पर के कारण होवें, भाषा जीव के कारण होवे, तब पुद्गल स्वतंत्र नहीं रहता है। ऐसा कहकर पुद्गल को स्वतंत्रपने से बताया गया है।

जीव और पुद्गल गमन करें, उसमें धर्मद्रव्य निमित्त है। निमित्त के कारण गमन करे तो द्रव्य की गमनपर्याय का नाश होने पर द्रव्य का नाश होता है।

भव्य जीव सिद्ध का विचार करता है। यदि निमित्त के कारण विचार होवे तब विकल्प स्वतंत्र नहीं रहता है। इसप्रकार विकल्प भी स्वतंत्र है—ऐसा मानकर 'विकल्प तो मेरा त्रिकाली स्वभाव नहीं है, मैं तो ज्ञानमात्र हूँ'—ऐसी उपादान दृष्टि होने से सम्यग्दर्शन और ध्यान प्रकट होता है—उसमें सिद्ध भगवान निमित्त हैं, वे प्रेरणा से परिणमन नहीं कराते हैं। उसीप्रकार जब जीव और पुद्गल स्वयं गति करते हैं, तब उनको धर्मद्रव्य निमित्त है, धर्मद्रव्य प्रेरणा से गति नहीं कराता है। [क्रमशः]

कानजी स्वामी विश्रांतिगृह निर्माण का निश्चय

सोनगढ़ - पूज्य श्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का लाभ लेने के लिए प्रौढ़ शिक्षण-शिविर के अवसर पर देश के कोने-कोने से हजारों जिज्ञासु भाई-बहन सोनगढ़ आते हैं। लोगों को अधिक से अधिक ठहरने आदि की पर्याप्त व्यवस्था हो सके—इस उद्देश्य से इस वर्ष शिविर के अवसर पर श्री दिगंबर जैन मुमुक्षु मंडल बम्बई द्वारा संचालित साढ़े सात लाख रुपयों की लागत से पूज्य श्री कानजीस्वामी विश्रांतिगृह के निर्माण की योजना प्रारंभ की गयी है, जिसके अंतर्गत साढ़े चार लाख रुपये एकत्र हो गये हैं। अगले वर्ष शिविर के अवसर पर इस विश्रांतिगृह की सुविधा मुमुक्षु भाईयों को उपलब्ध कराने का संकल्प है।

जैनपथ प्रदर्शक का दशलक्षण पर्व विशेषांक

जैनपत्रों में सर्वाधिक बिक्रीवाले जैनपथ प्रदर्शक का आगामी अंक दशलक्षण पर्व विशेषांक प्रकाशित हो रहा है। तत्संबंधी रचनाऐं एवं समाचार शीघ्र प्रकाशनार्थ भेजें।

ज्ञान-गोष्ठी

सायंकालीन तत्त्वचर्चा के समय विभिन्न मुमुक्षुओं द्वारा पूज्य स्वामीजी से किये गये प्रश्न और स्वामीजी द्वारा दिये गये उत्तर।

प्रश्न- शरीर को आत्मा से भिन्न कहा, यह तो ठीक है, जँचता भी है; परंतु राग आत्मा से भिन्न है, यह गले उतरना तनिक कठिन लगता है-जरा समझाइये ?

उत्तर- चैतन्य में अन्दर गया अर्थात् पुण्य-पापभाव का साक्षी हो गया, तब वह भाव से भिन्न है, काल से भिन्न है, और क्षेत्र से भी भिन्न है; वस्तु भिन्न ही है, आत्मा तो अकेला ज्ञानघन चैतन्यपुंज ही है।

प्रश्न- तत्त्व का निर्णय करने में कितने वर्ष लगते होंगे ?

उत्तर- कार्य हो जाये तो अंतर्मुहूर्त में ही हो जाये अन्यथा पूरा जीवन ही निर्णय करने में व्यतीत हो जाये। इसमें काल का कोई प्रश्न ही कहाँ है ? वीर्य को विपरीत परिणमन से अवरुद्ध करके स्वरूप-सन्मुख करे तो कार्य हुए बिना रहे नहीं। जितना कारण उपस्थित करना चाहिये उतना जबतक नहीं जुटाते, तब तक कार्य संपन्न नहीं हो सकता।

प्रश्न- आत्मा की रुचि हो और सम्यग्दर्शन न हो सके तो अग्रिम भव में होगा क्या ?

उत्तर- आत्मा की सच्ची रुचि हो उसे सम्यग्दर्शन होगा ही—अवश्य होगा। यथार्थ रुचि और लक्ष होने पर सम्यग्दर्शन न हो, यह तीन काल में नहीं हो सकता। वीर्य में हीनता नहीं होनी चाहिये, वीर्य में उत्साह और निःशंकता आनी चाहिये। कार्य होगा ही—इसप्रकार हमारे निर्णय में आना चाहिए।

प्रश्न- मिथ्यात्व-आस्रवभाव को तोड़ने का वज्रदंड क्या है ?

उत्तर- त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकस्वभाव ही वज्रदंड है, क्योंकि उसी का आश्रय लेने से मिथ्यात्व-आस्रवभाव टूटता है। प्रथम में, प्रथम कर्तव्य राग से भिन्न होकर ज्ञायकभाव की दृष्टि करना है। इस कार्य के किये बिना तप-व्रतादि सभी कुछ थोथा है।

प्रश्न– सत् का संस्कार डालने से क्या लाभ है ?

उत्तर– जिसप्रकार कोरे मटके में जल की बिंदु डालने से मटका उसे चूस लेता है और जल-बिंदु ऊपर दृष्टिगोचर नहीं होती, फिर भी जल की आर्द्रता तो अंदर रहती ही है, इसी कारण विशेष बूंदें पड़ने पर मटके की मिट्टी गीली हो जाती है और जल उसके ऊपर दिखाई देने लगता है; उसीप्रकार जो जीव सत् की गहरी जिज्ञासा करके सत् के गंभीर संस्कार अंदर में डालेगा, उस जीव को कदाचित् वर्तमान में पुरुषार्थ की कचास के कारण कार्य न हो सके तथापि सत् के गहरे डाले हुए संस्कार दूसरी गति में प्रकट होंगे – अत: सत् के गहरे संस्कार अवश्य डालो।

प्रश्न– अनुमानज्ञान से आत्मा को जाननेवाले की पर्याय में भूल है या आत्मा जानने में भूल है ?

उत्तर– अनुमानज्ञान वाले ने आत्मा को यथार्थ जाना ही नहीं, अत: आत्मा के जानने में भूल है। स्वानुभव प्रत्यक्ष से ही आत्मा जैसा है वैसा जानने में आता है। अनुमान से तो शास्त्र और सर्वज्ञ जैसा कहते हैं वैसा आत्मा को जानता है, परंतु यथार्थ तो स्वानुभव में ही ज्ञात होता है। स्वानुभव के बिना आत्मा यथार्थ जानने में नहीं आता।

प्रश्न– शास्त्रों में कहीं तो परीक्षाप्रधानी बनने के लिए कहा और कहीं आज्ञानुसारी रहने का निद्रेश दिया। परीक्षा किये बिना निर्णय होता नहीं-अब हमें क्या करना ?

उत्तर– परीक्षा तो करना, परंतु जिन-आज्ञा को मुख्य रखकर करना। सर्वज्ञ की आज्ञा मानकर परीक्षा करना, अकेली परीक्षा करने जाओगे तो भ्रष्ट हो जाओगे। जिनशासन में कथित पदार्थों के स्वभाव की गंभीरता, क्षेत्रस्वभाव की गंभीरता, कालस्वभाव की गंभीरता, अनंत भावों के स्वभाव की गंभीरता—इन सूक्ष्मस्वभावी पदार्थों को जिनाज्ञा से प्रमाण करना। अल्पबुद्धि का धारक जीव अकेली परीक्षा करने जायेगा तो जिनमत से च्युत हो जाने का बड़ा दोष होगा। जिन-आज्ञा को मुख्य रखकर बने जितनी अर्थात् जितनी हो सके उतनी परीक्षा करने में दोष नहीं है। अकेली आज्ञा से ही माने और परीक्षा करे ही नहीं तो भी निर्णय सच्चा नहीं हो सकता, और सच्चा निर्णय हुए बिना किसी अन्य के द्वारा की गई कुतर्कपूर्ण वार्ता सुनकर श्रद्धान बदल भी सकता है। इसलिये परीक्षा करके निर्णय तो अवश्य करना, परंतु जिन-आज्ञा को मुख्य रखकर करना।

*

समाचार दर्शन

आध्यात्मिक शिक्षण एवं प्रवचनकार-प्रशिक्षण-शिविर संपन्न

सोनगढ़ (गुज०) :- प्रतिवर्षानुसार यहाँ २० जुलाई से ८ अगस्त तक बीस दिवसीय शिक्षण-शिविर सानंद संपन्न हुआ। इस शिवर में मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात, पश्चिम बंगाल, बिहार आदि प्रांतों के बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता, जयपुर, भोपाल, जबलपुर, गुना, ग्वालियर, उज्जैन, रतलाम, शिवपुरी, मंदसौर, सागर, अशोकनगर, आगरा, कानपुर, सहारनपुर, ललितपुर, बड़ौत, इटावा, उदयपुर, अजमेर, कोटा, बाराँ, झालावाड़, बड़ौदा, अहमदाबाद, राजकोट, भावनगर, गया, बंगलौर, मद्रास आदि से हजारों की संख्या में आत्मार्थी बंधुओं ने आकर लाभ लिया। प्रतिदिन पूज्य स्वामीजी के समयसार गाथा ३०८-३११ के आधार पर क्रमबद्धपर्याय पर तथा नियमसार के शुद्धभाव अधिकार पर अत्यंत आत्मानुभवप्रेरक प्रवचन उत्साहवर्धक रहे।

शिक्षणवर्ग में विद्वद्वर्य पंडित लालचंदभाई द्वारा पंडितप्रवर टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, तथा मोक्षमार्गप्रकाशक के उभयाभासी एवं सम्यक्त्वसन्मुख-मिथ्यादृष्टि प्रकरणों पर हृदयग्राही शैली में कक्षा ली गयी। डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल द्वारा मोक्षमार्गप्रकाशक के चौथे एवं सातवें अध्याय में वर्णित सात तत्त्वों की भूलों का तुलनात्मक विवेचन और नयचक्र के आधार पर नयों का मार्मिक विवेचन जन-आकर्षण के केंद्र बने रहे। मध्यमवर्ग में पंडित ज्ञानचंदजी विदिशा द्वारा छहढाला की कक्षाऐं ली गयीं। मध्याह्न १.३० बजे से विभिन्न विद्वानों द्वारा कक्षाऐं ली जाती थीं। इसप्रकार प्रतिदिन ८ घंटे कार्यक्रम चलता था।

९ अगस्त को पूज्य बहिन श्री चंपाबेन की जन्म-जयंती उल्लासपूर्वक मनायी गयी। पंडित खीमचंदभाई एवं श्री चिमनलाल ठाकरसी ने बहिनश्री के प्रति विनयांजलि प्रेषित की।

अंत में पंडित धन्नालालजी ग्वालियर, श्रीमंत सेठ ऋषभकुमारजी खुरई, पंडित कपूरचंदजी सागर आदि अनेक विद्वानों ने शिविर की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए पूज्य स्वामीजी के प्रति आभार माना। शिविर के अवसर पर लगभग ३० हजार रुपये का सत्साहित्य बिका एवं आत्मधर्म के ६०० तथा जैनपथ प्रदर्शक के २०० ग्राहक बनाये गये।

— अखिल बंसल

मोरवी (गुजरात) :- विगत दिनों यहाँ आयी बाढ़ के कारण शहर को काफी क्षति पहुँची है। सारे शहर में त्राहि-त्राहि मची हुई है। समाचार-पत्रों के अनुसार इस बाढ़ में २५००० लोग मारे गये हैं।

परमोपकारी पूज्य कानजीस्वामी के प्रसाद से और वीतराग धर्म के अवलंबन से स्थानीय मुमुक्षु मंडल के सभी २५० भाई-बहिन सकुशल हैं। किसी भी परिवार को कोई विशेष क्षति नहीं हुई है। यह घटना प्राणियों को धर्म की ओर प्रेरित करने के लिए पर्याप्त है।

— इंदुमल रतीलाल संघवी

विदिशा (म०प्र०) :- दिनांक २२ से २५ अगस्त तक पंडित रतनचंदजी भारिल्ल के प्रातः किले अंदर मंदिर में समयसार के कर्ता-कर्म अधिकार पर तथा रात्रि में माधवगंज मंदिर में समयसार के जीवाजीव अधिकार पर सारगर्भित प्रवचन हुए। **— विद्यानंद**

एटा (उ०प्र०) :- दिनांक १६-७-७९ से १४-८-७९ तक पंडित रवीन्द्रकुमारजी जैन कुरावली से पधारे। प्रतिदिन स्थानीय दिगंबर जैन बड़े मंदिर में तीनों समय आपके सारगर्भित प्रवचन हुए। प्रातः एवं रात्रि को बालकों की कक्षाओं का आयोजन भी किया गया।

— कुसुमकुमार जैन

बेल्लदबागेवाडी (कर्नाटक) :- स्थानीय भरतेश गुरुकुल में दिनांक १३-७-७९ से २१-७-७९ तक अ० भा० जैन युवा फैडरेशन के तत्त्वावधान में श्री मनहरभाई सेठ की अध्यक्षता में शिक्षण-शिविर सानंद संपन्न हुआ। शिविर का उद्घाटन श्री शांतप्पा मिरजी, चिक्कोडी के कर-कमलों द्वारा संपन्न हुआ। शिक्षण कार्य श्री टोडरमल दिगंबर जैन सिद्धांत महाविद्यालय के छात्र श्री पद्माकर श्रीकांत मुंजोले ने किया। इस शिविर से लगभग ५० छात्रों ने लाभ उठाया। शिविर में योग्यता-प्राप्त छात्रों को ब्रह्मचारी यशपाल जैन द्वारा पुरस्कृत किया गया। इस अवसर पर श्री मुंजोले द्वारा होलल्केरे, व्हसा दुर्ग, दावणगेरे, हरिहर, अकलंगी तथा बंगलौर में नवीन वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं की स्थापना की गयी।

सोनगिरि (महा०) :- दक्षिण विभागीय वीतराग-विज्ञानमय धर्म शिक्षण-शिविर यहाँ दिनांक १०-८-७९ से १८-८-७९ तक सानंद संपन्न हुआ। बम्बई से पधारे डॉ० प्रियंकर यशवंत जैन के लोकप्रिय शैली में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप पर एवं उनकी सच्ची भक्ति के स्वरूप पर हुए प्रवचनों से समाज ने कुरीतियों को तोड़कर शुद्ध आम्नाय को स्वीकार

किया। प्रवचन के अतिरिक्त श्री प्रियंकरजी ने जैन सिद्धांत प्रवेशिका एवं रत्नकरंड श्रावकाचार की कक्षाऐं लीं। ब्रह्मचारी यशपाल जैन ने मोक्षमार्गप्रकाशक एवं छहढाला के माध्यम से सात तत्त्वों का स्वरूप स्पष्ट किया। मलकापुर से पधारे पंडित नेमीचंदजी सर्राफ ने तीन दिन तक छहढाला की कक्षाऐं लीं। प्रतिदिन बालवर्ग की कक्षाऐं भी चलती थीं। शिविर से लगभग २०० शिक्षणर्थियों ने लाभ लिया। युवा-वर्ग में विशेष रुचि जागृत हुई।

जयपुर (राज०) :- स्थानीय टोडरमल स्मारक भगवान में १२ अगस्त से २५ अगस्त १९७९ तक पंद्रह दिवसीय शिक्षण-शिविर सानंद संपन्न हुआ। इस अवसर पर स्थानीय समाज के अतिरिक्त सरदारशहर, भीलवाड़ा, भिंड, जसवंतनगर, कानपुर, खंडवा, सनावद, नागपुर, दिल्ली, इटावा, मौ, बम्बई, कोटा, किशनगढ़, रतलाम, गुना आदि विभिन्न स्थानों से शताधिक मुमुक्षु बंधुओं ने आकर धर्मलाभ लिया। सरदारशहर से कुछ श्वेताम्बर भाई भी आये थे। उन्होंने तत्त्व को बड़ी रुचिपूर्वक सुना और अनेक शंकाओं का समापन किया। समाज में महती धर्मप्रभावना हुई।

प्रतिदिन प्रात: और रात्रि में क्रमश: समयसार एवं मोक्षमार्गप्रकाशक पर विद्वद्वर्य पंडित बाबूभाई मेहता एवं डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल के गहन, गंभीर, सरस एवं हृदयग्राही प्रवचन होते थे। प्रात: ९ से १० एवं मध्याह्न २.३० से ३.३० तक पंडित रतनचंदजी भारिल्ल एवं पंडित अभयकुमारजी शास्त्री छहढाला एवं मोक्षमार्गप्रकाशक के निश्चयाभासी प्रकरण पर कक्षाऐं लेते थे। प्रारंभ के दिनों में डॉ० भारिल्लजी एवं अंतिम दिनों में श्री बाबूभाई द्वारा तत्त्वचर्चा भी चली।

— महावीर पाटिल

जयपुर :- श्री पंडित कैलाशचंदजी बुलंदशहरवालों की कक्षाओं एवं प्रवचनों का यहाँ दिनांक ५ अगस्त से १५ अगस्त तक भव्य आयोजन रहा। प्रतिदिन सुबह श्री दिगंबर जैन बड़ा मंदिर में, दोपहर को मंदिर छाबड़ान में व रात्रि को मंदिर सीबाड़ में नियमित रूप से कार्यक्रम चला। आपकी शैली अत्यंत ही आकर्षक व हृदयग्राही है। महती धर्मप्रभावना हुई व समाज में तत्त्व के प्रति विशेष रुचि जागृत हुई। श्री चिरंजीलालजी ने श्री दिगंबर बड़ा मंदिर में व श्री कपूरचंदजी मलिकपुर वालों ने मंदिर सीवाड़ में कक्षाऐं चलाने का संकल्प प्रकट किया। फलस्वरूप पहले के आये हुए १०० सैटों के खत्म हो जाने से १०० सेटों का और आर्डर देहरादून भेजा गया।

— सुरेन्द्रकुमार गोधा

रतलाम (म०प्र०) :- वाणीभूषण अध्यात्मप्रवक्ता पंडित ज्ञानचंदजी १० अगस्त से १७ अगस्त, १९७९ तक रतलाम रहे। आपके स्थानीय दिगंबर जैन नये मंदिर में छहढाला तथा मोक्षमार्गप्रकाशक पर नियमित प्रवचन चलते थे। पंडितजी की सरल वाणी तथा चारों अनुयोगों के उदाहरण मुमुक्षुओं को तत्त्व समझने के लिए सहायक होते थे। इस अवसर पर श्री कुंदकुंद कहान दिगंबर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट को पिछली बोली के १२१०१) रुपये प्राप्त हुए तथा १५१९०) रुपये की नवीन स्वीकृतियाँ प्राप्त हुईं, जिनमें से २५८७) नकद प्राप्त हुये। आपकी अध्यक्षता में अ० भा० जैन युवा फैडरेशन की नवीन शाखा भी गठित की गई। अंत में आपको अभिनंदन पत्र भेंट किया गया। **— ललित पाटोदी**

अब आत्मधर्म नौ रुपये में

जैसा कि आपको विदित ही होगा कि कागज की कीमतों में दिनोंदिन वृद्धि होती जा रही है। इस विषम स्थिति में हमें विवश होकर आत्मधर्म के वार्षिक शुल्क में वृद्धि करनी पड़ रही है। अब जनवरी ८० से आत्मधर्म का वार्षिक मूल्य ९ रुपये होगा। आशा है सभी पाठकों का सहयोग पूर्ववत् बना रहेगा। **— प्रबंध संपादक**

शिलान्यास की तिथि में परिवर्तन

जयपुर :- श्री टोडरमल दिगंबर जैन सिद्धांत महाविद्यालय के नए भवन का शिलान्यास कारणवश १५ अगस्त को न हो पाया था - वह अब नवंबर के द्वितीय सप्ताह में होना निश्चित हुआ है। विस्तृत समाचार आगामी अंक में प्रकाशित किये जाऐंगे। **— मंत्री**

भोपाल (म०प्र०) :- २ जुलाई ७९ से स्थानीय मंगलवारा तारण-तरण चैत्यालय में जैन युवा परिषद के तत्त्वावधान में शिक्षण-शिविर आयोजित किया गया। शिक्षण का कार्य पंडित रोशनलालजी गोयल ने आकर्षक शैली में किया। **— राजकुमार जैन**

पाठकों के पत्र

उज्जैन (म०प्र०) से सुलोचना बहिन लिखती हैं: —

क्रमबद्धपर्याय की विवेचना जिस सुंदर ढंग से आपने चला रखी है, वह अपने आप में एक अभूतपूर्व कार्य है। आत्मधर्म पढ़कर एक अनुपम शांति का रसास्वादन होता है। महान उपकार है पूज्य स्वामीजी का जिन्होंने वर्तमान युग में अध्यात्म की उच्चकोटि का दिग्दर्शन जन-जन तक पहुँचाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अब तो दिन-प्रतिदिन जिज्ञासा बढ़ती ही जा रही है।

नारायणगढ़ (म०प्र०) से श्री कोमलसिंहजी कोठारी, एम०ए०, बी०एड० लिखते हैं: —

आत्मधर्म में प्रकाशित 'क्रमबद्धपर्याय' वाले संपादकीय ने हमको सही रास्ता दिखाया है। जो लोग जिनेन्द्र भगवान की भक्ति करते-करते स्वार्थबुद्धि से उनका संबंध व्यंतर देवों से लगाकर उनके किसी न किसी रूप-नाम में आस्था करने लगते हैं; उनको यह संपादकीय लेख अंधेरे से प्रकाश की ओर ले जाता है।

छतरपुर (म०प्र०) से श्री नेमीचंदजी जैन, टेलीफोन इंस्पैक्टर लिखते हैं : —

विगत चार वर्षों से आत्मधर्म का नियमित पाठक हूँ। पूज्य कानजीस्वामी की जिनवाणी के प्रति अपूर्व लगन एवं श्रद्धा के कारण ही आज जैन साहित्य घर-घर में प्रवेश कर गया है। जैन साहित्य आज इतना सस्ता एवं सुलभ हो गया है, इसके लिए स्वामीजी साधुवाद के पात्र हैं।

पिड़ावा (राज०) से श्री दीपचंदजी जैन लिखते हैं: —

पहले आत्मधर्म के संबंध में कुछ भी नहीं जानता था। परंतु अजमेर में बालबोध प्रशिक्षण प्राप्त करने के उपरांत अब आत्मधर्म पढ़ता हूँ तो मेरे मन की अनेक भ्राँतियाँ दूर हो गयी हैं। इसमें तो ज्ञान ही ज्ञान भरा होता है। यह चिरकाल तक लोगों को शिक्षा देते रहे जिससे लोग अपनी आत्मा का कल्याण कर सकें, ऐसी भावना है।

आगरा (उ०प्र०) से श्री सुभाष जैन लिखते हैं: —

आत्मधर्म का अंक पढ़ने को मिला, पत्रिका समाज के लिए काफी उपयोगी एवं ज्ञानवर्द्धक है।

प्रबंध संपादक की कलम से

कृपया निम्नलिखित सूचनाओं पर अवश्य ध्यान दें: —

(१) जिन बंधुओं ने भेंट-कूपन भेज दिये हैं, वे पुस्तक प्राप्ति के लिये कृपया व्यग्र न होवें। सभी के भेंट-कूपन क्रम से लगाते जा रहे हैं, जैसे ही आपका नंबर आयेगा, पुस्तक भेज दी जायेगी। इस संबंध में पत्र व्यवहार करने का कष्ट न करें।

(२) जो बंधु भेंट की पुस्तक रजिस्टर्ड डाक से मंगाना चाहते हैं, वे कृपया भेंट-कूपन के साथ २) रुपये का पोस्टल आर्डर भेजें। (पोस्टल आर्डर में नाम आदि कुछ न लिखें—हम यहाँ भर लेंगे)। लोगों के भेंट-कूपन हमें पहले प्राप्त हो जाते हैं व मनीआर्डर पोस्ट ऑफिस से कई दिनों बाद में इकट्ठे आते हैं-अत: मनिआर्डर प्राप्त होने के पहले भेंट-पुस्तक सादी डाक से भेज दी जाती है। वैसे भी मनिआर्डर वाला कूपन ढूंढ़ने में बाद में कठिनाई भी आती है। अत: २) रुपये का मनिआर्डर न भेजकर पोस्टल आर्डर ही भेजें। इस व्यवस्था से सभी को सुविधा रहेगी।

(३) दशलक्षण पर्व के समाचार शीघ्र भेजें। देर से प्राप्त समाचारों को अक्टूबर के अंक में देना संभव नहीं होगा।

आवश्यक सूचनाएँ

(१) शीतकालीन परीक्षा १९७९ में उत्तीर्ण परीक्षार्थियों के प्रमाण-पत्र १ अगस्त तक संबंधित समस्त केंद्रों के केंद्राध्यक्षों के पास भेजे जा चुके हैं। उसकी प्राप्ति की सूचना देने के लिए प्रत्येक पैकेट में एक-एक पोस्टकार्ड (टिकिट लगा एवं पता लिखा) भी रखा था। आशा है सभी को प्राप्त हो गये होंगे। कुछ संस्थाओं ने अभी तक पहुँच की सूचना नहीं दी, अत: शीघ्र सूचित करें।

(२) श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड की आगामी शीतकालीन परीक्षाओं (जनवरी / फरवरी १९८०) हेतु खाली प्रवेशफार्म शीघ्र ही भेजे जा रहे हैं, प्राप्त होते ही भरकर भेज देवें।

(३) जो पाठशालाएँ तथा स्कूल श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड का पाठ्यक्रम अपनी संस्था में चलाना चाहते हैं, वे उक्त परीक्षा बोर्ड की नियमावली, प्रवेशफार्म बिना मूल्य मंगा लेवें।

(४) श्री वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं को आर्थिक सहयोग भी दिया जाता है, अत: इच्छुक संस्थाएँ अनुदान फार्म मंगाकर भरकर भेजें।

— मंत्री, वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड, ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

नैरोबी (अफ्रीका) में पंचकल्याणक महोत्सव

नैरोबी जाने के इच्छुक बंधुओं से निवेदन है कि कन्सेशन रेट की सीटें पूरी भर चुकी हैं, अत: कन्सेशन रेट में जाने के लिये अब लिखने का कष्ट न करें।

जिन बंधुओं ने सीट बुक कराने को लिखा था, किंतु उन्होंने ४२००) नहीं भेजे थे—वे अब जाना चाहें तो फुल रेट के टिकिट के वास्ते ७०००) निम्नलिखित पते पर तुरंत भेजने की व्यवस्था करें। इसमें से यदि कोई राशि बचेगी तो वापिस लौटा दी जावेगी।

४२००) भेजनेवाले या ७०००) भेजनेवाले बंधुगण अपना पासपोर्ट भी हमें तुरंत भिजवाने का कष्ट करें।

ध्यान रखें कि नैरोबी जाने की व्यवस्था श्री बलूभाई कर रहे हैं, पंडित बाबूभाई नहीं—अत: सीधा संपर्क श्री बलूभाई से निम्न पते पर करें :—

श्री बलूभाई शाह द्वारा श्री दिगंबर जैन मुमुक्षु मंडल,
१७३/१७५ मुम्बादेवी रोड, बम्बई ४००००२

नैरोबी (अफ्रीका) में पंद्रह लाख रुपये की लागत से निर्मित होनेवाला भव्य शिखरबद्ध जिनालय लगभग बनकर तैयार है। जयपुर के कुशल कारीगरों द्वारा तरासी गई भगवान महावीर, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ और शांतिनाथ की मनोज्ञ प्रतिमाऐं शीघ्र ही हवाई जहाज द्वारा नैरोबी ले जाई जा रही हैं। दिनांक १९-१-८० को हो रहे दिगंबर जिनबिंब पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव में पूज्य गुरुदेव सहित लगभग ४०० मुमुक्षु भाई भारत से समाज के आमंत्रण पर वहाँ पधारे रहे हैं। अभी हाल में सोनगढ़ में शिक्षण-शिविर के अवसर पर श्री लक्ष्मीचंद केशवजी शाह एवं श्री देवराज जेठाभाई शाह के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि मंडल ने पूज्य गुरुदेवश्री को नैरोबी पधारने का आमंत्रण दिया। केन्या की राजधानी नैरोबी तथा प्रमुख नगर मोम्बासा में पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवास लगभग एक माह तक रहेगा। अफ्रीका में पंचकल्याणक महोत्सव एवं पूज्य गुरुदेवश्री के स्वागत की तैयारी जोरों पर है। वहाँ के दिगंबर जैन मुमुक्षु मंडल के लोगों में अति उत्साह है।

इतिहास में यह पहला अवसर है जब इतने विशाल पैमाने पर सुदूर विदेश में इसप्रकार का कार्यक्रम आयोजित किया जा रहा है। श्री कानजीस्वामी द्वारा विश्व में दिगंबर जैन धर्म का बिगुल बज उठा है। अब वह दिन दूर नहीं जब अध्यात्म की गूंज से यह धरा गूंज उठेगी।

—बाबूभाई मेहता

Registration. No. RJ-2712

हमारे यहाँ प्राप्त प्रकाशन *

मोक्षशास्त्र	१२-००
समयसार	१२-००
समयसार पद्यानुवाद	०-७०
समयसार कलश टीका	६-००
प्रवचनसार	१२-००
पंचास्तिकाय	७-५०
नियमसार	५-५०
नियमसार पद्यानुवाद	०-४०
अष्टपाहुड़	१०-००
समयसार नाटक	७-५०
समयसार प्रवचन भाग १	६-००
समयसार प्रवचन भाग २	प्रेस में
समयसार प्रवचन भाग ३	५-००
समयसार प्रवचन भाग ४	७-००
आत्मावलोकन	३-००
श्रावकधर्म प्रकाश	३-५०
द्रव्यसंग्रह	१-५०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-४०
प्रवचन परमागम	२-५०
धर्म की क्रिया	२-००
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग १	१-५०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग २	१-५०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग ३	१-५०
तत्त्वज्ञान तरंगिणी	५-००
अलिंग-ग्रहण प्रवचन	१-६०
वीतराग-विज्ञान भाग ३ (छहढाला पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन)	१-००
बालपोथी भाग १	०-६०
बालपोथी भाग २	प्रेस में
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	४-००
बालबोध पाठमाला भाग १	०-५०
बालबोध पाठमाला भाग २	०-७०
बालबोध पाठमाला भाग ३	०-७०
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग १	०-७०
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग २	१-००
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग ३	१-००
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १	१-२५
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २	१-२५
जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा भाग १ व २	३०-००
मोक्षमार्गप्रकाशक	प्रेस में

पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व		१०-००
तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ		५-००
" " (पॉकेट बुक साइज में हिन्दी में)		२-००
मैं कौन हूँ ?		१-००
तीर्थंकर भगवान महावीर		०-४०
वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर		०-२५
अपने को पहचानिए		०-५०
अर्चना (पूजा संग्रह)		०-४०
मैं ज्ञानानंद स्वभावी हूँ (कैलेंडर)		०-५०
पंडित टोडरमल : जीवन और साहित्य		०-६५
कविवर बनारसीदास : जीवन और साहित्य		०-३०
सत्तास्वरूप		१-७०
सुंदरलेख बालबोध पाठमाला भाग १		प्रेस में
अनेकांत और स्याद्वाद		०-३५
युगपुरुष श्री कानजीस्वामी		१-००
वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका		३-००
सत्य की खोज (भाग १)		२-००
आचार्य अमृतचंद्र और उनका पुरुषार्थसिद्धयुपाय	साधारण :	२-००
	सजिल्द :	३-००
धर्म के दशलक्षण	साधारण :	४-००
	सजिल्द :	५-००

Licence No.
P. P. 16-S.S.P. Jaipur City Dn.
Licensed to Post
Without Pre-Payment

If undelivered please return to :
प्रबन्ध-संपादक, आत्मधर्म
ए-४, टोडरमल स्मारक भवन, बापूनगर
जयपुर ३०२००४